ईशोपनिषद्



पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय

ओ३म्

ईशोपनिषद्-भाष्य

(सरल भाषा-भाष्यसहित)

भाष्यकार :

पं० श्री गंगाप्रसाद जी उपाध्याय

सम्पादक :

प्राध्यापक राजेन्द्र 'जिज्ञासु'

प्रकाशक :

श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास

हिण्डौन सिटी (राज०)-३२२ २३०

यह क्यों ?

ईशोपनिषत् के संस्कृत, हिन्दी भाषा, अंग्रेज़ी तथा संसार की अन्य भाषाओं में अनेक भाष्य मिलते हैं। फिर पीसे को पीसने से क्या लाभ ?

इस का उत्तर मैं नहीं देता। पाठक एक बार पढ़ें और आप को स्वयं ज्ञान हो जाएगा।

—गंगाप्रसाद उपाध्याय

सन् १९४०

ओ३म्

समर्पण

मैं

पं० श्री गंगाप्रसाद उपाध्याय जी
के ईशोपनिषद् के इस अनुपम भाष्य के
इस संस्करण को
सरल, तरल जीवन एवं मृदुल स्वभाव वाली
निश्चल, निष्कपट, निष्काम तथा
सबके साथ समभाव रखनेवाली देवी
स्मृतिशेष श्रीमती कमलेशकुमारी
धर्मपत्नी श्री रमेशकुमार जी मल्होत्रा की
मधुर स्मृति में समर्पित करता हूँ।

**श्री रमेशकुमार जी ने
गत तीस वर्षों में कई संस्थाओं व विद्वानों का
आर्य धर्म व आर्य संस्कृति विषयक
अनेक ग्रन्थों के प्रकाशन में निष्काम
सहयोग व मार्गदर्शन किया है।**

श्रीमती कमलेश जी ही इन सब पुनीत कार्यों में
आपकी सहयोगी रहीं। उनके भक्तिभाव व
निरन्तर सहयोग के बिना श्री रमेश जी
कदापि यह ऐतिहासिक सेवा न कर पाते।

—राजेन्द्र 'जिज्ञासु'

प्राक्कथन

उपनिषदों पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है। देश-विदेश की कई भाषाओं में उपनिषदों के भाष्य छप चुके हैं। उपनिषदों में भी ईशोपनिषत् के सर्वाधिक भाष्य प्रकाशित हुए हैं। वैदिक साहित्य के कई मूर्धन्य गवेषकों व विद्वानों ने तो केवल इसी उपनिषत् का भाष्य किया है। इस युग के विश्व प्रसिद्ध वैदिक दार्शनिक पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय ने भी केवल इसी उपनिषत् का भाष्य किया है। यह भाष्य १९४० ई० में प्रकाशित हुआ था। इसके तीन वर्ष पश्चात् आपने उपनिषदों के आधार पर '**भागवत कथा**' नाम से एक उत्तम आध्यात्मिक पुस्तक लिखी थी।

ईशोपनिषत् के पचासों भाष्य मिलते हैं फिर उपाध्याय जी ने इसका भाष्य क्यों किया ? यह प्रश्न आपने स्वयं ही उठाया और अपने भाष्य के तीन पंक्ति के अपने प्राक्कथन में आपने इसका उत्तर देते हुए यह लिखा—"**इसका उत्तर मैं नहीं देता। पाठक! एक बार पढ़ें और आपको स्वयं ज्ञात हो जाएगा।**"

इस कथन में भाष्यकार का आत्मविश्वास ओतप्रोत है। पाठक इस का पारायण करेंगे तो उनका हृदय यह साक्षी देगा कि यह भाष्य वैदिक दर्शन पर एक अद्‌भुत पुस्तक है। यह वैदिक अध्यात्मवाद पर एक प्रामाणिक व पठनीय पुस्तक है। ईश्वर, जीव, प्रकृति, कर्म, पाप, पुण्य, मोक्ष, निष्काम कर्म, कर्त्तव्य, जड़-चेतन का भेद, आत्मा, परमात्मा व प्रकृति का सम्बन्ध, परमात्मा का स्वरूप, जीव की कर्म करने की स्वतन्त्रता, विद्या, अविद्या, जीवन व मृत्यु आदि मूलभूत बातों पर बड़ी सरल, सुबोध व रोचक शैली में भाष्यकार ने प्रकाश डाला है।

इस भाष्य की मौलिकता निर्विवाद है। आप किसी भी मन्त्र की व्याख्या को उठाकर पढ़िये, आप भाष्य की मौलिकता व रोचकता पर मुग्ध हो जायेंगे। अध्यात्मवाद के अत्यन्त गूढ़ प्रश्नों के उत्तर बड़े सरल ढंग से दिये गये हैं। **दर्शन की गुत्थियों को सुलझाने व समझाने में भाष्यकार को एक सिद्धि प्राप्त थी। शुष्क से शुष्क विषय को रोचक बनाकर हृदयंगम करवाने के वे यशस्वी कलाकार थे।** आप

मन्त्र संख्या १, २, ५, ६, ७, ८ व १६ की व्याख्याओं का स्वाध्याय करेंगे तो आप को ऐसा लगेगा कि ज्ञान के फाटक खुल गये हैं। अनेक संशय विनष्ट होंगे।

आप परिभूः, अकायम्, अपापविद्धम् शब्दों के अर्थों व व्याख्या पर विचार करेंगे तो आपको ऐसा अनुभव होगा कि आप अन्धेरे से उजाले में आ गये हैं। ईश्वर निर्गुण है। ईश्वर सगुण भी है। निर्गुण व सगुण का अर्थ लोग निराकार व साकार लेने लग गये। इन दोनों शब्दों में मूल शब्द तो गुण ही है। गुण का अर्थ तो विशेषता (Quality) होता है। बीच में काया (आकार)= [निराकार व साकार] कहाँ से घुस गई? ऐसा प्रश्न किसी ने कभी उठाया क्या? ईशोपनिषद् के इस भाष्यकार ने ही 'अकायम्' पर विचार करते हुए यह प्रश्न उठाकर भ्रम-भञ्जन का प्रशंसनीय प्रयास किया है।

इस भाष्य का गम्भीर अध्ययन करने से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि परमात्मा अनादि है और उसके गुण, कर्म व स्वभाव भी अनादि हैं। प्रभु का स्वभाव व स्वरूप समय पाकर नहीं बदलता। जीव का स्वभाव, प्रकृति (अथवा Nature कह लीजिए) आज भी वही है जो पहले थी। इसमें भी कुछ परिवर्तन दिखाई नहीं देता। सुख-शान्ति की प्राप्ति के लिए जिस शिक्षा की मानव को सहस्रों व लाखों वर्ष पहले आवश्यकता थी वही सत्य, संयम, अहिंसा, अपरिग्रह, दया, करुणा, न्याय आज भी इस के लिए कल्याणकारी हैं। पहले भी यही धर्मोपदेश हितकर था। आज भी इस की पूर्ववत् आवश्यकता है। **धर्म का विकास नहीं हो सकता। भवनों, सड़कों व विमानों का भले ही होता रहे। मानव निर्मित वस्तुओं में विकास, ह्रास व परिवर्तन होता है। इस सत्य को इस्लाम के प्रखर विचारक डॉ० गुलाम जेलानी ने भी अपनी एक नवीन पुस्तक में स्वीकार किया है।**[१]

ईश्वर सर्वव्यापक है। इस कारण सर्वज्ञ व सर्वद्रष्टा है। इसी कारण से सृष्टि-रचना में वह प्रभु सक्षम है। इसी कारण वह प्रभु न्यायकारी, कर्मफल का प्रदाता है। यह ईशोपनिषत् का सब से बड़ा सन्देश है। "ईश्वर ने आज पर्यन्त किसी कुकर्मी के दुष्कर्म को क्षमा

१. देखिए, 'अल्लाह की आदत' उर्दू पुस्तक लेखक डॉ० गुलाम जेलानी, पृष्ठ २३४

नहीं किया।'' यह है ईशोपनिषत् की डॉ० जेलानी पर गहरी छाप। ''पाप को जीवन से बहिष्कृत कर दीजिए, दुःख का प्रवाह समाप्त हो जाएगा।'' यह वैदिक मान्यता उपनिषदों के प्रचार से ही डॉ० जेलानी की समझ में आई है।

ईशोपनिषत् के इस भाष्य पर विहंगम दृष्टि डालने से ही यह तथ्य उपासकों की समझ में आ जाता है कि आत्म व परमात्मा का सीधा सम्बन्ध है। दोनों के बीच में कोई बिचौलिया (Mediator) नहीं है। अनेक प्रकार के पाखण्ड व अन्धविश्वास इस सचाई को समझने से दूर हो जाते हैं।

ईशोपनिषत् के इस भाष्य में **वैदिक धर्म के पुरुषार्थ दर्शन को बहुत उत्तमता से समझाया व बताया गया है।** इस सृष्टि को इस धर्म पुस्तक में 'जगत्' कहा गया है। जगत् का अर्थ है जो गति करता है। एक विचारक ने ठीक ही तो कहा है कि **यदि 'जगत्' शब्द बाईबल में आया होता तो ब्रूनो जैसा वैज्ञानिक जलाया न जाता। गेलेलियो को अमानवीय यातनाएँ न दी जातीं।**

हम पाठकों से अनुरोध करेंगे कि वे इस भाष्य में आठवें मन्त्र के एक-एक शब्द पर विचार करें। इस मन्त्र की व्याख्या पर मनन करें। शतवर्षीय वैदिक विद्वान् श्री पं० सुधाकर जी के साथ हमारे पाठक स्वर मिलाते हुए यह कहेंगे—'The mantra needs no explanation. This is the only rational and scientific concept of God.' अर्थात् इस मन्त्र की अधिक व्याख्या की कोई आवश्यकता नहीं। यही एकमात्र ईश्वर का तार्किक व वैज्ञानिक स्वरूप है।

इस भाष्य के सम्बन्ध में दो बातों का उल्लेख करते हुए हमें बड़ा आनन्द होता है। पूज्य उपाध्याय जी ने सोलापुर (महाराष्ट्र) में रहते हुए यह भाष्य पूरा किया था। सोलापुर में मैंने वह मेज भी देखा है जिस पर वे लिखा करते थे। सोलापुर कभी हमारी भी कार्यस्थली रहा है। इस भाष्य के लिए उपाध्याय जी ने बड़ा परिश्रम किया। श्री पं० त्रिलोकचन्द्र जी शास्त्री से भी इस कार्य में सहयोग लिया।

यह भाष्य भाष्यकार के जीवनकाल में ही अप्राप्य हो गया। हमने सारे देश में इसकी सघन खोज की। सोनीपत के श्री रामचन्द्र जी आर्य ने श्री स्वामी सत्यप्रकाश जी से कहा—''उपाध्याय जी कृत ईशोपनिषद

भाष्य कहीं से मिले तो प्रकाशित होना चाहिए।''

स्वामी जी ने कहा—''उपाध्याय जी ने उपनिषदों पर केवल भागवत कथा ही लिखी है। किसी उपनिषत् का भाष्य नहीं किया।'' श्री रामचन्द्र जी ने कहा—''ईशोपनिषत् का भाष्य अवश्य किया था।'' श्री स्वामी जी ने कहा—''मैं जो कहता हूँ कि उन्होंने ईशोपनिषत् का भाष्य नहीं किया।''

रामचन्द्र जी आर्य ने फिर कहा—''स्वामी जी किया था।'' अब स्वामी जी ने कहा—''इस विषय पर आपको अधिक पता है या मुझे ?''

विनम्रता से रामचन्द्र जी आर्य ने कहा—''आप ही अधिक जानते हैं, परन्तु जिज्ञासु जी कहते हैं कि पूज्य उपाध्याय जी ने ईशोपनिषत् का भाष्य किया था।''

अब अपने बड़प्पन का परिचय देते हुए श्री स्वामी जी महाराज ने कहा—''जिज्ञासु जी ऐसा कहते हैं तो फिर अवश्य ईशोपनिषत् का भाष्य कभी छपा होगा। उन को सब पता है।''

परमात्मा की असीम कृपा से रामचन्द्र जी ने इसकी एक दुर्लभ प्रति कहीं से खोज निकाली। किंग्जवे कैम्प, दिल्ली की आर्य कुमारसभा ने इसे कुछ वर्ष पूर्व प्रकाशित भी करवा दिया। अब श्री प्रभाकरदेव जी आर्य इसके प्रसार का यश लूटने लगे हैं। हमें सन्तोष व गौरव की अनुभूति हो रही है कि भाई रामचन्द्र जी से हम ने इसकी चर्चा कभी कर दी। इसी का यह सुखद फल है कि आर्य साहित्य का यह अमूल्य रत्न उन्हीं के पुरुषार्थ से हमें पुनः प्राप्त हो रहा है। मुद्रण के कई दोष दूर करके, यत्र तत्र उपयोगी टिप्पणियाँ तथा कई उपशीर्षक देकर हमने इस को और भी महिमा मण्डित कर दिया है। आशा है अब इस के कई संस्करण निकलेंगे।

ऋषि बोध-पर्व २००७ ई०

विनीत

—प्राध्यापक राजेन्द्र जिज्ञासु

वेदसदन, नई सूरज नगरी,
अबोहर—१५२ ११६ (पंजाब)

उपोद्घात

गंगा नहर में जल तो गंगा का ही है—"उपनिषत्" शब्द का अर्थ है पास बैठना (उप+नि+सत्) परिभाषा में "उपनिषत्" उन पुस्तक-विशेषों का नाम है जिनमें आत्मविद्या का वर्णन है। मानव-जाति के साहित्य में आत्मविद्या पर "उपनिषत्" जैसी अन्य पुस्तकें नहीं मिलतीं। यह कहावत है कि उपनिषदें गौएँ हैं और श्रीकृष्ण ने उन्हीं से दुह कर दूध के रूप में गीता तैय्यार की है। इससे भी उपनिषदों का महत्त्व ही सिद्ध होता है कि वे गीता जैसी शिक्षा का कोष हैं। **भारतवर्ष में उपनिषदों का इतना मान रहा है कि लोग उनको वेदों की पदवी देने लगे हैं। एक अंश में यह बात ठीक भी है। गंगा की नहर गंगा तो नहीं है परन्तु उसमें जल गंगा से आता है।** इसलिए उसे गंगा की नहर कहते हैं। इसी प्रकार उपनिषदों में जो शिक्षाएँ हैं, ये या तो सीधी वेद से ली गई हैं या वेद के कुछ मन्त्रों पर आधारित हैं। दस-ग्यारह उपनिषदें प्राचीन मानी जाती हैं, अर्थात् ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तरीय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक। ग्यारहवीं श्वेताश्वतर उपनिषद् भी बहुत प्राचीन नहीं तो भी प्राचीन ही समझी जाती है। इन उपनिषदों की प्राचीनता कहाँ तक जाती है यह कहना कठिन है, परन्तु उपनिषदों के मान को देखकर लोगों ने आधुनिक काल में बहुत उपनिषदें बना डालीं। इनकी संख्या सैकड़ों तक पहुँचती है। इनमें अधिकतर तो भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों को उन्नत करने के लिए लिखी गईं और प्राचीन उपनिषदों से यत्र-तत्र कुछ लेकर कुछ अपना मिलाकर "कहीं की ईंट और कहीं का रोड़ा, भानमती ने कुनबा जोड़ा" की कहावत चरितार्थ की है। कह नहीं सकते कि आजकल भी उपनिषद्-निर्माण-कला जारी है या बन्द हो गई, परन्तु दूध में पानी अधिक मिलने से दूध का नाम भी बदनाम हो जाता है।

हम कह चुके हैं कि "उपनिषत्" का शाब्दिक अर्थ है पास बैठना। शिष्य गुरु के पास बैठकर उनसे आत्म-रहस्य के सम्बन्ध में जो उपदेश लेते थे वही उपनिषत् थीं। उपनिषदों को देखने से भी यही विदित होता है। जैसे प्रश्नोपनिषद् में कुछ ऋषि पिप्पलाद ऋषि के

पास जाते हैं और उनसे आत्म-विद्या सम्बन्धी प्रश्न करते हैं। पिप्पलाद ने जो उत्तर दिये वही प्रश्नोपनिषद् हो गई।

दाराशिकोह पर प्रभाव—जब यूरोपियन भाषाओं में उपनिषदों का अनुवाद हुआ तो लोगों ने बहुत पसन्द किया। शौपनहार ने जो जर्मनी का एक प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता गिना जाता है, यहाँ तक कह दिया कि उपनिषदों ने मुझे जीवन काल में बहुत शान्ति दी है और मृत्यु समय भी इन्हीं से शान्ति मिलेगी। भारतवर्ष में शाहजहाँ बादशाह के राज्यकाल में उपनिषदों का फ़ारसी में अनुवाद उनके बड़े पुत्र दाराशिकोह ने कराया था। [१]दाराशिकोह उपनिषदों पर इतना मोहित हुआ कि मुसलमानों को "इस्लाम खतरे में" दृष्टिगोचर होने लगा, और उस को 'काफ़िर' कहने लगे। इसी के कारण दारा को अपना तख़्त और जीवन दोनों देने पड़े। यूरोप में भी ईसाई पादरियों को यह आशंका हुई और बहुधा यह यत्न किया गया कि बायबिल और उपनिषदों की शिक्षा की तुलनात्मक समीक्षा करके बायबिल की श्रेष्ठता सिद्ध की जाय। फिर भी उपनिषदें अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रहतीं। उपनिषदें किसी सम्प्रदाय विशेष के ग्रन्थ नहीं हैं और उनको साम्प्रदायिक रूढ़ियों से अलग करके पढ़ना चाहिए।

जिस उपनिषत् का भाष्य यहाँ दिया जाता है उस का नाम है ईशोपनिषद् अथवा ईशावास्योपनिषद्। यह नाम इस पुस्तक का इसलिए पड़ा कि इस का आदि शब्द "ईश" या "ईशावास्यं" है। 'केनोपनिषद्' को भी 'केन' इसीलिए कहते हैं कि वह 'केन' शब्द से प्रारम्भ होती है, परन्तु घुणाक्षर न्याय से "ईश" शब्द में सार्थकता भी है, अर्थात् इस में ईश प्रभु का वर्णन है। इसी प्रकार यह उपनिषद् 'ईशावास्य' भी है। **जिस प्रकार समस्त जगत् में प्रभु का वास है उसी प्रकार इस उपनिषद् में भी आदि से अन्त तक ईश ओत-प्रोत है।** इस का आरम्भ 'ईश' शब्द से होता है और अन्त 'ब्रह्म' शब्द से। इस को "वाजसनेयी उपनिषद्" भी कहते हैं, क्योंकि प्राचीन वेदपाठियों की जो "वाजसनेयी" शाखा थी उसमें इस का बहुत नाम था। वाजसनेयी शाखावाले यजुर्वेदी हैं। यह उपनिषद् भी यजुर्वेद का चालीसवाँ (अन्तिम) अध्याय ज्यों का त्यों है। केवल दो तीन मन्त्रों में कुछ भेद है। कुछ यूरोपीय लोग

१. दाराशिकोह के अनुवाद का नाम 'सरे अकबर' है। —'जिज्ञासु'

इसी आधार पर कल्पना करते हैं कि यजुर्वेद में यह अध्याय पीछे से मिलाया गया, परन्तु वह केवल कल्पनामात्र है। **कोई प्रमाण इसकी सिद्धि नहीं करता। उन का मत है कि यजुर्वेद में पूरे ३९ अध्याय कर्मकाण्ड परक हैं। फिर चालीसवां अध्याय आत्म-परक कैसे?** महीधर ने अपने यजुर्वेद भाष्य में चालीसवां अध्याय इन शब्दों से आरम्भ किया है—

एकोनचत्वारिंशताध्यायैः कर्मकाण्डम् निरूपितम्। इदानीं कर्मा- चरणशुद्धान्तःकरणं प्रति ज्ञानकाण्डमेकेनाध्यायेन निरूप्यते। ईशावास्यमित्यादिमन्त्राणां कर्मसु विनियोगो नास्ति तेषां शुद्धत्वैक-त्वापापविद्धत्वाशरीरत्वसर्वगतत्वाद्यात्मयाथात्म्यप्रतिपादनात्। तच्च कर्मणा विरुध्यते॥

अर्थात् ३९ अध्यायों में कर्मकाण्ड बताया गया। अब कर्मकाण्ड द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि होने पर एक अध्याय में ज्ञानकाण्ड का निरूपण किया जाता है। ईशावास्य आदि मन्त्रों का कर्मों में विनियोग नहीं है। उनमें तो शुद्ध एक तत्त्व का निरूपण है जो पापरहित, शरीररहित, सर्वव्यापक आदि है। इस का कर्म से विरोध होता है।

कर्मकाण्ड यज्ञ तक सीमित क्यों?—महीधर के इन वाक्यों में भ्रम हो जाता है। प्रथम तो ये लोग 'कर्मकाण्ड' का अर्थ लेते हैं—केवल यज्ञ या हवन। जीवन की प्रत्येक क्रिया को कर्मकाण्ड में सम्मिलित नहीं करते। इनके मत में देशसेवक कर्मकाण्डी नहीं हैं—चाहे वे देश की निस्वार्थभाव से सेवा करें। वैद्य जो रोग-नाश के उपायों में रत रहता है कर्मकाण्डी नहीं है। उनके मत में यजुर्वेद के मन्त्रों का केवल एक ही उपयोग है, अर्थात् यज्ञ में किस-किस कृत्य में उन का उच्चारण किया जाय, इसलिए उनके लिए आवश्यक है कि वे ईशोपनिषत् को अलग मानें, क्योंकि इसके मन्त्र किसी यज्ञ में विनियुक्त नहीं हैं। महीधर की यह बात भी गलत है कि शुद्ध, शरीररहित, अपापविद्ध आत्मा का निरूपण करना कर्म का विरोध करना है।[१]

१. ठीक इसी प्रकार के भाव शंकराचार्य जी ने ईशोपनिषद् भाष्य में प्रकट किये हैं। आनन्दगिरि ने इस पर टीका करते हुए लिखा है कि—
"शुद्धोऽहं स्वभावतो नाऽगन्तुकेनापि पाप्मना विद्धः सर्वत्रैकोऽशरीर आकाशोपम इति जानन्न कटाक्षेणाप कर्म वीक्षते। इत्यादि।"

(तच्च कर्मणा विरुध्यते) **क्योंकि उपनिषत् के दूसरे मन्त्र में ही कर्म की महिमा का अत्युत्तम वर्णन है। कर्मकाण्ड को केवल 'यज्ञ' तक सीमित रखना बड़ी हानिकारक संकुचितता है और यजुर्वेद में मन्त्रों को केवल आहुतियों का साधन समझना भी अन्याय ही है।** वैदिक कर्मकाण्ड मानव जीवन के सभी विभागों से सम्बन्ध रखता है। ईशोपनिषत् के पढ़ने से यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

ईशोपनिषत् की जो प्रतियाँ यजुर्वेद से अलग प्राप्त होती हैं उनमें और यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय में इतना अन्तर है—

वेद का क्रम—(१) यजुर्वेद में सम्भूति-असम्भूति-सम्बन्धी तीन मन्त्र ९ वें, १० वें और ११ वें हैं। और विद्या-अविद्या-सम्बन्धी तीन मन्त्र १२ वें, १३ वें, १४ वें। उपनिषद् में विद्या-अविद्या सम्बन्धी मन्त्र पहले देकर फिर सम्भूति-असम्भूति सम्बन्धी मन्त्र दिये गये हैं। हमने यहाँ वेद का क्रम ही रक्खा है। यही हम को ठीक जान पड़ा।

(२) वेद में १७ मन्त्र हैं। उपनिषद् में १८, उपनिषद् में "अग्ने नय सुपथा राये" यह अठारहवाँ मन्त्र है। वेद में सोलहवाँ। वेद का अन्तिम मन्त्र है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्॥

इस मन्त्र के दो टुकड़े करके उपनिषद् ने १५वें, और १६वें मन्त्र इस प्रकार दिये हैं—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत् त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥ १५॥

अर्थ—चमकीले पात्र से सत्य का मुख ढका हुआ है। हे रक्षक परमात्मा इस ढकने को उठा दे ताकि सत्य धर्म के दर्शन हो सकें।

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह।
तेजो यत् ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि॥१६॥

अर्थ—हे पूषन्!, एक ऋषि, यम, सूर्य्य, प्राजापत्य, किरणों को एकत्रित कर। जो तेरा कल्याणकारी तेजोमय रूप है उसे मैं देखता हूँ। यह जो चेतन शक्ति है वह मैं हूँ।

(३) वेद में छठे मन्त्र में 'विचिकित्सति' शब्द है और उपनिषद् में 'विजुगुप्सते॥'

हम समझते हैं कि जिस ऋषि ने इस उपनिषद् का उपदेश अपने शिष्यों को दिया होगा, उन्होंने व्याख्या करते समय पर्य्याय या लगभग पर्य्याय का प्रयोग कर दिया होगा। और १५वें तथा १६वें मन्त्र व्याख्या रूप में कहे होंगे। उन का आशय मूलतः मूल मन्त्रों में पाठ भेद करने का न रहा होगा। पीछे से जब उपनिषदों की प्रथा बढ़ गई, उस समय पाठ-भेद भी प्रचारित हो गया और कहीं-कहीं अर्थभेद भी। हमने यहाँ वेद के पाठ को ही यथावत् रक्खा है।[1] यही हम को उचित जान पड़ा। जो सज्जन दूसरा विचार रखते हों वे इस उपोद्घात में दिये हुए मन्त्रों को उन के उन स्थानों में जोड़कर पढ़ सकते हैं। अर्थों में बहुत अन्तर नहीं पड़ता।



१. इस भाष्य की यह भी तो एक विशेषता है कि भाष्यकार ने वेद के क्रम को महत्त्व दिया और वेद के पाठ को ही प्रामाणिक माना। पाठभेद करना कहां का औचित्य है? —'जिज्ञासु'

१

ओ३म् ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥

(१) ईशा=(व्या० 'ईश ऐश्वर्ये') से क्विप् करके ईट् बना। इस का तृतीयान्त ईशा=शक्तिमान् के द्वारा हुआ।

(२) वास्यम्=(व्या० 'वस आच्छादने' 'ऋहलोर्ण्यत्' पा० ३।१।१२४ से ण्यत् प्रत्यय किया) अवश्य ही बसा जाना चाहिए।

(३) इदं सर्वं=यह सब-कुछ

(४) यत् किञ्च=जो कुछ भी

(५) जगत्यां=(व्या०—जगती का सप्तम्यन्त) संसार में

(६) जगत्=चलायमान वस्तु है।

(७) तेन त्यक्तेन=उस त्यागे हुए से, अर्थात् उस को त्यागते हुए ही। इस प्रकार कि यह सब कुछ त्यागा हुआ समझा जाये।

(८) भुञ्जीथाः=भोगकर।

(९) मा गृधः=('गृधु अभिकाङ्क्षायां') आकांक्षा या लोभ मत कर।

(१०) कस्य स्वित् (स्वित् निपात 'वितर्क' का अर्थ देता है) किसका है?

(११) धनम्=धन

अन्वयार्थ—संसार में जो कुछ भी चलायमान या गतिशील है उसमें शक्तिमान् ईश्वर अवश्य ही व्यापक होना चाहिए। इस चलायमान वस्तु को त्यागते हुए ही भोगो, अर्थात् सुख-लाभ करो। सन्तुष्टि-लाभ करो। लालच मत करो। यह धन किस का हुआ है? अर्थात् किसी का भी नहीं।

जब विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि एक हम हैं और दूसरा हमारे अतिरिक्त संसार है। यह संसार सदा गतिशील रहता है। कभी कोई दृश्य हमारे सामने आता है, कभी कोई। कभी कोई शब्द सुनाई

देता है। कभी कोई विचार उठता है। आँखें खोलने से लेकर रात को सोते समय तक हमारे सामने दृश्यों का तांता बँध जाता है। ये सब चीजें बड़े वेग के साथ चलती रहती हैं। कोई वस्तु हम को स्थायी प्रतीत नहीं होती। जब हम बैठते या सोते हैं तो उस समय भी हमारी गति बड़ी तेज होती है। यदि आप डाक गाड़ी में जो सत्तर मील की चाल से दौड़ रही है अपनी जगह पर बैठे हुए हैं तो अपने को निश्चल नहीं कह सकते क्योंकि आप भी उसके साथ सत्तर मील के वेग से चल रहे हैं। और पृथ्वी तो २४ घण्टों में २५००० मील, अर्थात् प्रति घण्टा १०४० मील से ऊपर चल रही है। फिर हम निश्चल कैसे? विज्ञानवेत्ता बताते हैं कि जिस को हम पहले परम-अणु या एटम कहते थे। वह भी एक बहुत बड़ा मण्डल है और उसके भीतर इलैक्ट्रॉन या विद्युत्-बिन्दु बड़े वेग से दौड़ रहे हैं। ऐसे चलायमान संसार को 'जगती' कहा गया क्योंकि संस्कृत में जगती चलायमान वस्तु का नाम है (जगती, 'गम् गतौ'-चलनेवाली)।

यह जगती या संसार न केवल सामूहिक रूप से चलायमान है, किन्तु इस में जो कुछ है वह भी गतिवाला है, इसलिए उस को 'जगत्' कहा।* इस प्रकार संसार के अवयव और अवयवी दोनों ही गतिशील ठहरे। यों तो कहा जाता है कि संसार में दो प्रकार के पदार्थ हैं, अर्थात् स्थावर और जंगम, अचर और चर, परन्तु जिन को हम स्थावर कहते हैं जैसे पहाड़ आदि वे भी एक प्रकार से 'जंगम' हैं, अर्थात् उनमें नित्य कोई न कोई गति होती रहती है। इसलिए स्थावर और जंगम दोनों 'जगत्' या 'जंगम' की कोटि में आते हैं इनमें निश्चलता है ही नहीं। इन को 'स्थावर' या 'ठहरे हुए' केवल अन्य वस्तुओं की अपेक्षा से कहते हैं।

जगत् गतिशील अवश्य है, परन्तु इस में सभी वस्तुओं की गति बराबर नहीं है। कोई थोड़ी गतिवाली और कोई अधिक गतिवाली, गति का यह न्यूनाधिक्य हम को प्रतिक्षण प्रतीत होता है। घण्टे की सुई इतनी तेज़ी से नहीं चलती जितनी मिनट की। और मिनट की इतनी नहीं जितनी सेकण्ड की। यदि सभी वस्तुएँ एक ही गति से चला

* गतियाँ परस्पर असम्बद्ध नहीं हैं। इनका परस्पर सम्बन्ध है। उपाध्यायजी इस कारण जगत् का अर्थ गति विधान भी किया करते थे। —'जिज्ञासु'

करतीं तो कोई वस्तु भी चलती प्रतीत नहीं होती। जहाँ गति की बराबरी है वहाँ गति की प्रतीति नहीं होती। थोड़ा विचार कीजिए। आप रेल में बैठे हैं। आपके पास ही आप का सन्दूक रक्खा है। जो रेल की गति है वही आप की है और वही आपके सन्दूक की भी है। यदि आप रेल से बाहर किसी अन्य वस्तु को न देखें या सर्वथा विचार से भुला दें तो आप को अनुभव होगा कि आप का सन्दूक चल नहीं रहा। ठहरा हुआ है, क्योंकि रेल के भीतर की सभी वस्तुओं की चाल उतनी ही है। **इससे ज्ञात होता है कि गति का न्यूनाधिक्य ही हम को गतिशील वस्तुओं की गति की प्रतीति कराता है।**

जब भिन्न-भिन्न पदार्थों की गति में न्यूनाधिक्य हुआ तो देखना चाहिए कि इस न्यूनाधिक्य का कारण क्या है? मिनट की सुई घण्टे की सुई से क्यों तेज़ है और सेकण्ड की सुई से क्यों सुस्त? दोनों सुइयाँ एक सी हैं और एक दूसरे के स्थानापन्न हो सकती हैं। सेकण्ड की सुई बहुत छोटी होती है, परन्तु छोटी घड़ी में वह भी घण्टे का काम दे सकती है। इससे ज्ञात होता है कि सुइयों की यह गति अपनी नहीं है, कहीं से आई है। रेलगाड़ी कभी तेज़ दौड़ती है कभी उसकी चाल मन्द हो जाती है और स्टेशन पर वह ठहर ही जाती है। **यदि इञ्जन में स्वयं गति होती तो उसकी चाल में कभी भेद नहीं पड़ता।** इससे दूसरी बात जो प्रतीत होती है वह यह कि जगत्, अर्थात् गतिशील समस्त वस्तुएँ अपनी गति में भेद रखती हैं और वह गति उनकी नहीं है, किन्तु कहीं से उधार आई है। संसार की प्रत्येक वस्तु की गति निमित्त से बढ़ाई जा सकती है। यदि उनकी अपनी गति होती तो ऐसा होना सम्भव न था।

इस से एक और चीज़ का पता चलता है, अर्थात् गति देनेवाला गतिमान् वस्तु के भीतर कोई और है।* इसी को 'ईट्' या ईश कहा गया है। इस का नाम ईश इसलिए है कि यह गतिमान् पदार्थों को गति देता है उन पर उस का ऐश्वर्य या स्वामित्व है।** वह ड्राइवर है और

---

* स्वामी सत्यप्रकाशजी गति, व्यवस्था व प्रयोजन को ईश्वर की सत्ता का सबसे बड़ा प्रमाण बतलाया करते थे।

** उपाध्यायजी ईशा व आवास्यम् का मर्म बताते हुए अन्यत्र लिखते हैं कि प्रत्येक गति विधान के लिए आवश्यक है कि उसमें संचालक का सान्निध्य हो। —'जिज्ञासु'

समस्त जगत् इञ्जन है। ये सब गतिशील है और ईश्वर गतिशील नहीं किन्तु गतिप्रद है, गति देनेवाला है।

गति का दूसरा नाम परिवर्तन है। कहते भी हैं कि संसार परिवर्तनशील है, अर्थात् कोई भी वस्तु सदा एक अवस्था में नहीं रहती। क्षण-क्षण में बदलती रहती है। यह परिवर्तन तीन प्रकार का होता है। काल की अपेक्षा से, देश की अपेक्षा से और अवस्था की अपेक्षा से। यदि एक इञ्जन दस दिन तक एक ही स्टेशन पर खड़ा रहे तो देश की अपेक्षा से निश्चल भले ही हो तो भी वह काल की अपेक्षा से दस दिन आगे बढ़ गया।

काल की अपेक्षा से भी अवस्था का अन्तर तो होगा ही। देश में परिर्वतन का भी यही हाल है, इसलिए जगत् की समस्त वस्तुएँ काल, देश तथा अवस्था की अपेक्षा से सदा बदलती रहती हैं।

परन्तु जो वस्तु इस जगत् में गति उत्पन्न करती है वह गतिशील नहीं है। वह देश, काल तथा अवस्था की अपेक्षा से बदलती नहीं। यदि वह भी गतिशील होती तो उस को जगत् कहते और यदि उस को जगत् कहते तो प्रश्न होता कि उसकी गति अपनी है या कहीं से आई है। यदि उसकी गति कहीं और स्थान से आई होती तो फिर उस के लिए अन्य निमित्त खोजना पड़ता। यदि उस की स्वयं गति होती तो गति के न्यूनाधिक्य का कोई कारण देखना पड़ता, इसलिए वेद कहता है कि ये दो पदार्थ सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं। **एक जगत् है और दूसरा ईश है। जगत् गतिवाला है और ईश गति देनेवाला है। जगत् परिवर्तनशील है और ईश परिवर्तनशील नहीं है।***

यहाँ प्रश्न होता है कि ईश को भी क्यों न परिवर्तनशील मान लिया जाय? यदि ऐसा करेंगे तो आगे जाकर एक आपत्ति में पड़ जाएँगे। आप दो ही बातें मान सकते हैं या तो ईश में परिवर्तन अपने कारण होगा या किसी अन्य वस्तु के कारण। अपने कारण परिवर्तन तभी हो सकता है जब किसी प्रकार की अपूर्णता हो, क्योंकि गति का अर्थ ही यह है कि एक स्थान से दूसरे स्थान तक या एक अवस्था से

---

* वेद में '**विश्वस्य मिषतो वशी**' इसी नित्य सत्य का प्रकाश करता है। प्रभु जगत् का ईश है। —'जिज्ञासु'

दूसरी अवस्था तक पहुँचा जाय। ईश में कौन सी अपूर्णता माननी चाहिए या किस अवस्था की कल्पना करनी चाहिए जिस को प्राप्त करना ईश के लिए अभीष्ट है ?

यदि कहा जाए कि ईश में परिवर्तन अपने कारण नहीं, किन्तु इतर पदार्थों के कारण होता है तो उलझन दूर नहीं होती। जो वस्तु किसी अन्य वस्तु के प्रभाव से बदल जाए वह उस वस्तु से निर्बल होगी। **उस को ईश तो नहीं कह सकेंगे। मैं सदा अपने से निर्बलों में ही परिवर्तन उत्पन्न कर सकता हूँ। मुझ से बलिष्ठ मेरे द्वारा परिवर्तित हो ही नहीं सकता।** ईश को ईश इसीलिए कहते हैं कि वह शक्तिवाला है। शक्ति ही किसी अन्य पदार्थ को गति दे सकती है। शक्ति का अर्थ ही है गति देने की योग्यता।

अब प्रश्न हो सकता है कि जिस में स्वयं गति नहीं वह दूसरे को क्या गति देगा ? यह प्रश्न ठीक नहीं, क्योंकि गति का अर्थ है एक देश या एक काल या एक अवस्था से दूसरे काल या दूसरी अवस्था तक फेंक देना। यह काम वही कर सकता है जो स्वयम् अचल हो, इसलिए ईश अचल है और जगत् चलायमान है।

इस विवेचन से और भी बहुत सी उलझनें दूर हो जाती हैं। कहा जाता है कि ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। वह जैसा चाहे हो सकता है। कभी साकार कभी निराकार, कभी अवतार और कभी शुद्ध चेतन। **यदि ऐसा हुआ तो ईश्वर को 'ईश' की कोटि से निकाल कर 'जगत्' की कोटि में रखना पड़ेगा, क्योंकि परिवर्तन जगत् का धर्म है ईश का नहीं।** शक्ति और गति दोनों साथ नहीं रह सकतीं। सर्वशक्तिमान् होने के कारण ही वह गतिशील नहीं रह सकतीं। सर्वशक्तिमान् है, इस कारण ही वह गतिशील नहीं। **सर्वशक्तिमान् है, सर्वगतिमान् नहीं।** हां, इतना अवश्य है कि उस का उन सब पदार्थों से सम्पर्क तो होना ही चाहिए जिन को वह गति देता है। **गति पानेवाला गति देनेवाले से किसी अर्थ में भी दूर नहीं हो सकता।** इसीलिए वेद कहता है कि "ईशावास्यम्" अर्थात् जगत् के गतिवाला होने के कारण ही आवश्यकता है कि उस में गति देनेवाली कोई सत्ता ओत-प्रोत हो

बिना ऐसी सत्ता के व्यापक हुए जगत् कैसे बनेगा ?*

यदि जगत् गतिवाला है तो उसके साथ हमारा व्यवहार कैसा होना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर तो साधारण पुरुष भी दे सकता है, अर्थात् गतिवाले पदार्थ के साथ आप स्थायी व्यवहार कर ही नहीं सकते। जो वस्तु स्वयम् अनित्य हो उसके साथ हमारा सम्बन्ध भी अनित्य ही होगा। अनित्य वस्तु के साथ नित्य सम्बन्ध कैसा ? इसलिए कहा है कि '**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः**', अर्थात् इस को त्यागते हुए ही उपयोग करना चाहिए। यदि हम इस को नहीं त्यागेंगे तो यह हम को त्याग देगा। इसीलिए हम देखते हैं कि परिवर्तनशील शरीर को हम कितना ही पकड़ना चाहते हैं वह हम को छोड़कर भाग जाता है। हम ने चाहा कि दूध के दांत सदा बने रहें, परन्तु वे छोड़कर चले गये। दूसरे दांतों को भी अपनी अवस्था में रखने की कोशिश की वहाँ भी असफल रहे, इसलिए कहते हैं कि यदि हम अपनी वृत्ति को इस प्रकार का बना लें कि इस को छोड़ना ही है तो इस का उपयोग करते हुए भी हम इस के वियोग से दुःखी नहीं होंगे।**

वेदान्तदर्शन में 'ईश' या ब्रह्म के लिए एक सूत्र दिया है—

हेयत्वावचनाच्च।

अर्थात् जहाँ जगत् को 'हेय' कहा गया वहाँ ब्रह्म को हेय नहीं कहा गया। हेय वह वस्तु होती है जिस का सम्पादन तो किया जाता है, परन्तु सदा रखने के लिए नहीं किन्तु उद्देश्य की पूर्ति के पश्चात् त्यागने के लिए। सभी धन कमाते हैं परन्तु रखने के लिए नहीं किन्तु त्यागने के लिए। **जो मुनष्य रुपया जमा तो करता है किन्तु व्यय नहीं करता उस से रुपया स्वयं किसी न किसी प्रकार से छूट जाता है। इस का सब से अच्छा दृष्टान्त 'मार्ग' का है। मार्ग वह है जिस पर हम चलते हैं, अर्थात् जिस को पग-पग पर ग्रहण करते और पग-पग पर छोड़ते हैं। यदि ऐसा न करें तो वह मार्ग नहीं। यह जगत् भी**

---

* उपाध्यायजी एक सूक्ष्म बात कहा करते थे कि ईश्वर सर्वव्यापक है इसी कारण वह स्रष्टा, सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान् हैं। —'जिज्ञासु'

** आप चलते नहीं थकेले जाते हैं। ऐसा भी आपने लिखा है। भुञ्जीथाः और मा गृधः दोनों आदेश साथ-साथ हैं। —'जिज्ञासु'

मार्ग है। इस को छोड़ते हुए चलना चाहिए। जो इस को पकड़ना चाहता है निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच नहीं सकता। रेल यात्रा करने का साधन है। सदा रहने का निवास स्थान नहीं है, अतः सदा यह विचार रहना चाहिए कि यहाँ उतनी ही देर रहना है जितनी देर रहने से निर्दिष्ट स्थान तक पहुँच सकें। स्टेशन पर पहुँचकर कौन मूर्ख होगा कि गाड़ी में देर तक बैठा रहे।

यदि हम को जगत् के हेय, अर्थात् मार्ग होने का निश्चय हो गया तो हमारे मन की वृत्ति भी बदल जाती है और इसके साथ अपना नित्य सम्बन्ध जोड़ने का यत्न नहीं करते। ऐसा करने से स्वयं ही वेद के 'मा गृधः' उपदेश का पालन हो जाता है। लोभी वह है जो धन को अपने पास जमा रखना चाहता है। जमा वही करेगा जो धन के खर्च किये जाने के मूल्य को नहीं समझता। जिसने समझ लिया कि रुपया का मूल्य खर्च करने में है जमा करने में नहीं, वह रुपये से प्रेम न करके उस चीज़ से प्रेम करता है जो उस रुपये के द्वारा मिलती है। जो मनुष्य जानता है कि गाड़ी का मूल्य निश्चित स्थान तक पहुँचने में है न कि गाड़ी में बैठने में। वह गाड़ी में उतनी ही देर बैठता है जितनी देर निश्चित स्थान तक पहुँचने के लिए आवश्यक है।

अन्त में मन्त्र कहता है—**"कस्य स्विद्धनम्"** अर्थात् यह धन किस का है? **गाड़ी किस की है? किसी एक की नहीं, मुसाफिरों की है।** जो सफर करना चाहे वह बैठे और उतर पड़े। यह जगत् रूपी धन भी हम सब का है और किसी का भी नहीं। **रुपया किस का है? कभी वह किसान का और कभी जमींदार का। कभी बज़ाज़ का और कभी हलवाई का।** यदि वह एक का हो जाय तो वह रुपया न कहलाए। कहते हैं लक्ष्मी चलती-फिरती वस्तु है। वह एक के पास नहीं रहती। यदि एक के पास रहे तो लक्ष्मी नहीं। लक्ष्मी का लक्ष्मीत्व भी इसी में है कि वह एक की नहीं है।

कुछ लोगों ने लक्ष्मी के लिए बड़े अपमानजनक शब्दों का प्रयोग किया है। "लक्ष्मी.....है" और भिन्न-भिन्न कुलों के साथ सम्पर्क रखती है। यह बात सर्वांग में ठीक नहीं है। लक्ष्मी का उपयोग है, परन्तु उसकी स्थिरता में नहीं किन्तु उसकी चलायमानता में। जो मनुष्य मार्ग को हेय समझकर उस से सम्पर्क नहीं करता वह मूर्ख है। वह

अपने निश्चित स्थान पर कैसे पहुँचेगा ? लक्ष्मी की हेयता यही है कि उस से चिमट न जाओ, अर्थात् ''मा गृधः''।*

❑❑

* इस मन्त्र से सिद्ध होता है कि ईश्वर जीव व प्रकृति तीनों अनादि हैं। ईश्वर इस जगत् का स्वामी है। वह जीवों को त्यागभाव से भोगों को भोगने का उपदेश आदेश देता है। ईश्वर व जीव के अतिरिक्त भोग (प्रकृति) की सत्ता भी सिद्ध हो गई। ईश एक वचन है। एकेश्वरवाद भी निर्विवाद रूप से सिद्ध है। —'जिज्ञासु'

२.

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

(१) कुर्वन् एव=करते हुए ही (२) इह=इस संसार में
(३) कर्माणि=कर्मों को (४) जिजीविषेत्=जीने की इच्छा करे
(५) शतं समाः=सौ वर्ष (६) एवं=इस प्रकार
(७) त्वयि=तुझ में (८) न अन्यथा इतः=इससे अन्य प्रकार से नहीं
(९) अस्ति=है (१०) न=नहीं
(११) कर्म=कर्म (१२) लिप्यते=चिपटता है
(१३) नरे=मनुष्य में

अन्वयार्थ—मनुष्य सौ वर्ष तक काम करते हुए जीने की इच्छा करे। यही एक उपाय है कि कर्म मनुष्य को फाँसते नहीं, दूसरा उपाय नहीं।

अभ्यस्त कार्य में रुचि से बन्धन तक—जब हम किसी काम को करते हैं तो उस से हम को प्रेम हो जाता है। हम उसके करने में अभ्यस्त हो जाते हैं और जी चाहता है कि उसी काम को करते रहें। जिस प्रकार गाड़ी का पहिया पहले एक लीक बनाता है और फिर इधर-उधर हटाने पर भी वह उसी लीक में जाता है, इसी प्रकार मनुष्य के मन का हाल है। उस का अभ्यस्त काम में जी लगता है और अनभ्यस्त में नवीनता प्रतीत होती है। इस प्रकार यों कहना चाहिए कि काम मनुष्य को पकड़ लेता है और उसे छोड़ता नहीं। इस प्रकार काम से पकड़ा जाकर वह उस से तंग आ जाता है। मनुष्य मद्यपान आरम्भ करता है। मद्य मीठी नहीं होती। जब तक पी नहीं, मनुष्य को अधिकार है कि मुंह से लगाये या न लगावे, परन्तु जब एक बार चख ली तो दूसरी बार चखने को जी चाहता है। और जब दस-पाँच बार पी ली तो फिर मनुष्य मद्यपान के वश में पड़ जाता है। उस का अधिकार नहीं कि मद्यपान छोड़ सके। वह मद्यपान की जेल में कैदी हो जाता है। वह

बन्दी है और मद्यपान उस का जेलर है। वह बहुत यत्न करता है कि इस जेल से छूटकर भाग जाऊँ। बड़ी-बड़ी प्रतिज्ञाएँ करता है। प्रायश्चित्त करता है, परन्तु जहाँ जेलर सामने आया या उस का नाम ही कान में पड़ा उस की सब शक्ति लुप्त हो जाती है और वह फिर अपने आप को जेलर के पास में पाता है। क्या आपने कभी सोचा है कि कैदी हथकड़ी और बेड़ियों को किस प्रकार सहन करते हैं ? जब पहले पहल हथकड़ी डाली गई तो कितनी सख्त मालूम होती थी, परन्तु यदि आठ साल हथकड़ी पड़ी रहे तो वह हथकड़ी नहीं किन्तु कड़ा मालूम होता है। मैंने कई बार सोचा है कि स्त्रियाँ नाक जैसे नाजुक अंग में बड़ी-बड़ी नथनियाँ किस प्रकार पहनती हैं, परन्तु उत्तर नथनी पहनने वालियों से पूछो। जब नथनी उतारती हैं तो अपने को विचित्र सा अनुभव करती हैं। उन को प्रतीत होता है कि हम से कोई वस्तु छीन ली गई है। जिस प्रकार ऊंट नकेल के वश में होता है उसी प्रकार ये स्त्रियाँ भी नथनी के वस में हो जाती हैं। यह बात केवल स्त्रियों तक ही सीमित नहीं है। **हम सब एक न एक नथनी के गुलाम होते हैं। ये नथनियाँ या नकेलें हम को नित्य नाच नचाया करती हैं। ये हैं भिन्न-भिन्न कर्म जिन को हम किया करते हैं।**

प्रत्येक गति कर्म नहीं—परन्तु एक भूल है। प्रत्येक गति कर्म नहीं है। अब तक हम ने जिस काम का उल्लेख किया, वह 'गति' के समानार्थक था। यदि सब गतियों को कर्म कहा जा सके तो प्रत्येक जड़ वस्तु कर्म करती है और केवल सौ वर्ष नहीं किन्तु जब तक उस का अस्तित्व है। पृथ्वी निरन्तर चलती है। सूर्य निरन्तर चलता है। यह सब जगत् चलता ही तो है फिर क्यों कहा गया है कि मनुष्य को सौ वर्ष तक कर्म करते हुए जीने की इच्छा करनी चाहिए ? क्या कोई ऐसा भी है जो कर्म नहीं करता या बिना कर्म किये रह सकता है ? जो पैर हिलाना नहीं चाहता वह हाथ हिलायेगा।

जो हाथ नहीं हिला सकता वह जिह्वा को हिलाता है और जो चुप बैठा है, वह भी मन में कुछ न कुछ गति कर ही रहा है। ये सब काम हैं तो प्रत्येक पुरुष कर्मनिष्ठ है और पुरुष ही नहीं किन्तु पशु-पक्षी भी। **इससे सिद्ध होता हे कि प्रत्येक गति कर्म नहीं है यद्यपि प्रत्येक कार्य के लिए गति की आवश्यकता होती है।**

यहाँ एक बात याद रखनी चाहिए। वैशेषिकदर्शन में कणादमुनि ने कर्म इतने प्रकार के गिनाये हैं—

उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि।

(वै० १।१।७)

(१) उत्क्षेपण=ऊपर को गति (२) अवक्षेपण=नीचे को गति (३) आकुञ्चन=सिकुड़ना (४) प्रसारणं=फैलना (५) गमनम्=आना-जाना।

परन्तु ये कर्म तो गति के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। चीज़ एक ही है। हम जिस वेदमन्त्र की व्याख्या कर रहे हैं, उन में कर्म के ये अर्थ नहीं लिये गये।

इस प्रकार के कर्म का लक्षण वैशेषिक में यह दिया है—

एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम्।

(वै० १।१।१७)

(१) एक द्रव्य=जिसका आधार हो (२) अगुण=अर्थात् जिस पर गुण के लक्षण घटित न होते हों (३) संयोग=वियोग में अपेक्षारहित कारण हो, उस को कर्म कहते हैं।

यहाँ भी कर्म के भौतिक अर्थ ही लिये गये हैं, अर्थात् गति।

परन्तु ईशोपनिषद् में कर्म के विशेष अर्थ हैं।

कर्म क्या है ?—शायद आप कहें कि जो काम चेतन सत्ता इरादे से करती हैं वे कर्म हैं। ठीक है। कर्म का यह अर्थ भी है। चोरी एक कर्म है, क्योंकि वह इरादे से किया जाता है। डाका कर्म है। हत्या कर्म है। व्यभिचार कर्म है। ये सब इरादे से किये जाते हैं। ये सब चेतन सत्ता द्वारा ही हो सकते हैं। इनमें ज्ञान है, निर्वचन है। **'कर्तुम् ? अकर्तुम् अन्यथा कर्तुम्'** का नियम इन पर लागू होता है।

परन्तु इस मन्त्र में कर्म के ये अर्थ भी नहीं लिये गये। यदि ऐसा होता तो मन्त्र अनावश्यक और असत्य दोनों ठहरता। अनावश्यक इसलिए कि सभी चेतन सत्ताएँ इस प्रकार के कर्म नित्य करती रहती हैं। **जो बात बिना उपदेश के स्वभावत: ही हो रही है उसके लिए उपदेश की क्या आवश्यकता ?** कोई उपदेशक किसी को यह शिक्षा दे कि तुम सांस लिया करो तो यह शिक्षा निरर्थक ही होगी, क्योंकि

सांस तो बिना उपदेश के भी पहले से ही ली जा रही है। इसी प्रकार यदि प्रत्येक इरादे से किया हुआ काम कर्म है तो इस को करते हुए सौ वर्ष तक जीने की शिक्षा क्यों दी गई ? असत्य इसलिए कि हम देखते हैं कि इस प्रकार के कर्मों से मनुष्य कर्मों के फन्दे से छूटता नहीं। उस का फन्दा और कड़ा होता जाता है।

इस से स्पष्ट है कि यहाँ कर्म का यह अर्थ भी नहीं है।

भोग व कर्म का भेद—बहुत से कर्म भोगात्मक होते हैं। कर्मात्मक नहीं। यहाँ शायद परस्पर विरोध की आशङ्का हो, परन्तु ऐसा है नहीं। कल्पना कीजिए कि मैं रोटी खाता हूँ। प्रश्न होता है कि रोटी खाना कर्म है या भोग। यों तो 'रोटी खाना' एक काम है, परन्तु उसके अन्तर्गत बहुत से काम सम्मिलित हैं। एक-एक पर विचार कीजिए। मैंने खेत बोया। कर्म है या भोग ? आप कहेंगे कि कर्म। ठीक ! आगे चलिए ! खेत काटना और अन्न घर में लाना ? यह भी कर्म। ठीक ! आगे चलिए। अन्न पीसना और रोटी पकाना ? यह भी कर्म ! रोटी को थाली में परोस के सामने रखना ? कर्म ! रोटी तोड़कर मुँह में ले जाना ? कर्म ! उस को दांत से चबाना और गले से निगलना ? कर्म ! अच्छा ! आंतों द्वारा हज्म करना ? यह भी कर्म ! यदि ये सब कर्म हैं तो भोग किस का नाम है ? क्या भोग हैं ही नहीं और यदि हैं तो भोग और कर्म की क्या पहचान है ?

सकाम व निष्काम कर्म—कर्मों की वैदिक साहित्य में दो कोटियाँ बताई गई हैं, एक सकाम और दूसरे निष्काम। सकाम कर्म कामना, अर्थात् इच्छा से किये जाते हैं और निष्काम बिना इच्छा के। यदि यही लक्षण ठीक है तो संसार में सिवाय उन कर्मों के जो नैसर्गिक हैं, जैसे सांस लेना आदि और सभी कर्म सकाम ही होंगे ? हम को तो यह उपदेश मिलता है कि निष्काम कर्म करना अच्छा है सकाम करने की अपेक्षा। इसलिए विचारना पड़ता है कि वस्तुतः सकाम और निष्काम कर्मों में क्या भेद है।

कर्म बन्धन से छूटना—इस उलझन को सुलझाने के लिए हम को मन्त्र का आश्रय लेना चाहिए क्योंकि दूसरा मन्त्र पहले मन्त्र से सम्बन्धित है, अलग नहीं। इस मन्त्र में ऐसे कर्मों का उल्लेख है जिनके करने से मनुष्य कर्म के बन्धन से छूट जाये। प्रश्न यह है कि

क्या कोई ऐसे भी कर्म हैं जो इरादे से भी किये जाएँ और जिनके करने से कर्म का बन्धन भी छूट जाय। हाँ! हैं।*

पहले मन्त्र में कहा है—"तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा:" अर्थात् संसार की वस्तुओं को इस प्रकार से वर्तना चाहिए कि उनके साथ त्याग भाव हो। हम ऊपर बता चुके हैं कि जीवन यात्रा है। यात्रा में प्रत्येक वस्तु के साथ त्यागभाव होता है। यात्री वही है जो संसर्ग करते हुए भी त्यागभाव रखता है। हम किसी कोठे के ऊपर जाना चाहते हैं तो सीढ़ियों पर होकर जाते हैं। हमारा पैर हर एक सीढ़ी पर पड़ता है और उस को छोड़ता है। इसी का अर्थ है उन्नति और उत्क्रान्ति। यात्री को यात्रा सहायता तो देती है, परन्तु अपने पाश में फांसती नहीं। **जिस सीढ़ी पर पैर रखते ही चिपक जाय और चढ़नेवाला वहीं का वहीं रह जाय तो वह सीढ़ी नहीं कहलाती।**

बस! इसी तरह के कर्मों की ओर वेद-मन्त्र में संकेत है। इन्हीं को निष्काम कर्म कहते हैं। इन्हीं के करने से कर्म के बन्धन से छूट सकते हैं।

इस संसार में हमारा सम्बन्ध निरन्तर अन्य प्राणियों के साथ है। हम अकेले नहीं हैं। यदि अकेले होते तो शायद यात्रा करने की आवश्यकता न पड़ती अथवा यात्रा बहुत सुगम होती, परन्तु हमारा जीवन अन्य प्राणियों के जीवन से इस प्रकार बंधा हुआ है कि हम प्रत्येक काम में उनके सम्पर्क में आते हैं। जो काम हम अपने लिए करते हैं उनमें भी अपना हाथ या सहारा होता है और जो दूसरों के लिए करते हैं उनमें भी अपना हाथ या सहारा होता है। प्रत्येक कर्म के दो पक्ष हैं, उनको संस्कृत में व्याकरण की भाषा में "परस्मैपद" और 'आत्मनेपद' कह सकते हैं, अर्थात् दूसरों के लिए और अपने लिए। सम्भव है आदिम वैय्याकरणों का धातुओं के दो विभाग करने में यही प्रयोजन रहा हो। आगे चलकर संस्कृत के 'आत्मनेपद' और 'परस्मैपद' केवल विभक्तियों के आश्रित ही रह गये, परन्तु वास्तविक बात यह है कि अर्थ की अपेक्षा से सभी धातु उभयपदी हैं। वह कौन सा कार्य है

* उपाध्यायजी ने कर्म व बन्धन का भेद समझाते हुए लिखा है चोरी एक कर्म है। कारागार मिला, यह कर्म बन्धन है। चक्की पीसनी पड़ी, यह कर्म बन्धन है। इत्यादि। —'जिज्ञासु'

जो केवल अपने ही लिए किया जाता हो या केवल दूसरे के लिए ही ? क्योंकि हम और वे लोग जिसके लिए हम 'दूसरा' शब्द का प्रयोग करते हैं, वास्तव में एक-दूसरे से मिले हुए हैं। इस प्रकार न कोई 'आत्मने' रहता है न 'परस्मै' अपितु सभी ''परस्परस्मै'' हो जाते हैं।

हमारे उन सब कामों का जो इरादे से किये जाते हैं यही हाल है।

परार्थ व स्वार्थ—अच्छा फिर किस को परार्थ कहें और किस को स्वार्थ ? किस को निष्काम कहें और किस को 'सकाम' ? क्या दान देना परार्थ है या स्वार्थ ? मैं दान देता हूँ। क्यों ? मेरी प्रशंसा होगी। लोग मुझ से खुश होंगे और ईश्वर भी मुझ को इस का अच्छा फल देगा। यह तो स्वार्थ हुआ, कोरा ''आत्मने''। इस में परस्मै की कितनी मात्रा है ? यद्यपि दान दिया गया दूसरों को। इसलिए 'परस्मै' है, परार्थ है। ऐसे दान कर्म के फन्दे से छुड़ाने के काम में नहीं आते। इनसे कर्म में फंसाव हो सकता है।

अच्छा तो इस उलझन से कैसे छूटें ? यह तो बड़ी भारी उलझन है। कर्म के बन्धन में फंसने के समान हम इस उलझन के बन्धन में फंस गये। अब तो परार्थ कोई चीज नहीं रहा।

परन्तु यह बात नहीं। प्रत्येक कार्य के दो पहलू हैं। उन्हीं पहलुओं पर दृष्टि रखने से पता चल सकता है कि परार्थ क्या है और स्वार्थ क्या ? वस्तुतः कोई कर्म निज रूप से न परार्थ है न स्वार्थ। इसमें कर्त्ता की मनोवृत्ति छिपी हुई है। कर्त्ता स्वतन्त्र है। पाणिनि जी कहते हैं—

स्वतन्त्रः कर्ता

'स्वतन्त्र' किसे कहते हैं ? उस को जो अपने लिए 'तन्त्र' अर्थात् नियम स्वयं बनाता है। प्रत्येक कर्ता को पूछना चाहिए कि उसने अपने कर्म को किस नियम के आधार पर किया है। एक कर्म दो प्रकार से किया जाता है— मुख्यतः अपने और गौणतः औरों के लिए। अथवा मुख्यतः औरों के लिए और गौणतः अपने लिए। पहलेवाले कर्मों को सकाम और दूसरों को निष्काम कहते हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक कर्म में सकामता और निष्कामता की भी श्रेणियाँ हैं। इस को हम एक उदाहरण से स्पष्ट करेंगे। कल्पना कीजिए कि मुझे किसी ब्राह्मण से किसी काम की सिद्धि करनी है। मैं सोचता हूँ कि उसके हृदय को कैसे आकर्षित करूँ ? सोच-विचार के पता लगाता हूँ कि वह ब्राह्मण

अमुक संस्था अथवा परोपकार में लगा है। मैं उसी कार्य के लिए पुष्कल दान दे देता हूँ। दान की घोषणा करते ही मेरी कीर्ति बढ़ जाती है। उस ब्राह्मण से परिचय हो जाता है और थोड़े दिनों में अनायास ही मेरा काम निकल आता है। दान देना अच्छा है, क्योंकि इससे इतनों का भला हुआ, परन्तु इसमें सौ प्रतिशतक सकामता ही है निष्कामता का नाम भी नहीं। दानदाता ने पहले ही सोच लिया था कि मैं उस ब्राह्मण को रिश्वत दूँगा। रिश्वत देना कठिन था, अत: उसने यह टेढ़ा रास्ता पकड़ा। इस का दूसरा पहलू भी हो सकता था। ऐसे भी दानी हैं जिनका दान में लेशमात्र भी स्वार्थ नहीं है। देखने के लिए दोनों क्रियाएँ एक सी प्रतीत होती हैं परन्तु एक स्वार्थ प्रधान है और दूसरी परार्थ प्रधान। **इसकी परीक्षा दान के परिणाम या दान लेनेवाले के लाभ से नहीं की जा सकती। इसकी परीक्षा तो दानदाता स्वयं ही कर सकता है और दानदाता भी ऐसा जो सत्यप्रिय और आत्म-निरीक्षण में कुशल हो।**

हमारे इस उदाहरण से निष्काम कर्म और कर्मपाश के सम्बन्ध का पता चल जाता है। आप विचार कीजिए उन दो मनोवृत्तियों का जिनकी प्रेरणा से दो भिन्न-भिन्न पुरुषों ने दो प्रकार के दान दिये। जिसके दान में स्वार्थ मुख्य है उस में फंसावट भी बहुत है। वह अपने उस स्वार्थ का दास है। नित्य उस का मन अपने उद्देश्य की पूर्ति में लगा है। वह पुण्यकर्म भी उस को जकड़े हुए है। उस में स्वाधीनता नहीं है। परन्तु जिसने परार्थ प्रधान दिया है वह कर्म के वश में नहीं है, उसकी फंसावट कुछ नहीं।

एक और उदाहरण लीजिए—डॉक्टर जब दूसरों पर आपरेशन (चीर-फाड़) करता है तो उस का हाथ इतनी जल्दी नहीं कांपता जितना अपने लड़के की चीरफाड़ करते समय कांपता है। इसलिए प्राय: अच्छे डॉक्टर अपने निकट सम्बन्धी की चीरफाड़ स्वयं नहीं करते। इस का कारण है कि दूसरों की चीरफाड़ में स्वार्थ कम होता है। अपने सम्बन्धी में मोह की मात्रा अधिक होती है और वह कार्य को दक्षता से नहीं करने देती। इसमें मनुष्य अपने कर्म के जाल में फंस जाता है।

कर्म की प्रकृति—प्रत्येक कर्म की यह कुछ प्रकृति है कि

स्वार्थ प्रधान होने से फंसाव अधिक होता है और परार्थ प्रधान होने से फंसाव की मात्रा कम हो जाती है। राजा का कोषाध्यक्ष लाखों रुपये की आय और व्यय करते हुए धन के पाश से मुक्त होकर रहता है। उस को कोई लाभ, कोई चिन्ता, कोई फंसाव नहीं, परन्तु जो अपने रुपये रखता है वह लोभ और चिन्ता दोनों में बंधा होता है।

पुण्य का अभ्यास—हम ऊपर लिख चुके हैं कि सब काम न तो सर्वथा स्वार्थ होते हैं न सर्वथा परार्थ। जिसमें स्वार्थ की जितनी मात्रा है उसमें उतना ही फंसाव है और जिसमें परार्थ की जितनी मात्रा है उतना ही फंसाव कम और छुटकारा अधिक है, **इसलिए कर्म के फन्दों से छूटने के लिए मनुष्य को चाहिए कि स्वार्थ की मात्रा कम और परार्थ की अधिक करता जाय। यह बात अभ्यास से होगी।**

वैदिक साहित्य में सब से उच्च स्थान संन्यासी का है। संन्यासी काम सब करता है, परन्तु स्वार्थरहित। **जिसमें स्वार्थ है वह संन्यासी नहीं और जितना परार्थ है वह उतना ही संन्यासी है।**

यह कोशिश करो कि निष्काम, अर्थात् परार्थ-प्रधान कार्य करेंगे। फिर कार्य तुम को बन्धन में न फांस सकेंगे। यही मन्त्र का रहस्य है। यही उपनिषत् है।

❑❑

विशेष टिप्पणी—उपाध्यायजी लिखते हैं तकदीर (प्रारब्ध) बन्धन है और तदबीर (पुरुषार्थ) कर्म है। तकदीर का परिणाम है आलस्य और इसके बहुत से बाल-बच्चे हैं। ज्ञान व कर्म को परस्पर विरोधी बताना वेद-विरुद्ध है। ज्ञाननिष्ठ ही कर्मनिष्ठ हो सकता है। प्रभु ने ही शरीर में ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ दी हैं। इनमें परस्पर विरोध हो जाए तो व्यक्ति पागल समझा जाता है। पं० इन्द्रजी विद्यावाचस्पति ने लिखा है वही ज्ञान सफल है, जो अच्छे कर्मों का कारण बने; और वही कर्म कल्याणकारी है, जो बुद्धिपूर्वक किया जाए। —'जिज्ञासु'

३

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
ताँस्ते प्रेत्यापिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥

(१) असुर्याः=आसुरी, असुरोंवाले। दिव्यगुण-शून्य।
(२) नाम=निश्चय करके।
(३) ते=वे
(४) लोकाः=जन्म या योनियाँ
(५) अन्धेन तमसा=घोर अन्धकार से
(६) आवृताः=ढके हुए
(७) तान्=उन को
(८) ते=वे लोग
(९) प्रेत्य=मरकर
(१०) अपिगच्छन्ति—जाते हैं या प्राप्त होते हैं।
(११) ये के=जो कोई
(१२) आत्महनः=आत्मा की हत्या करनेवाले
(१३) जनाः=लोग हैं।

अन्वयार्थ—जो कोई आत्महत्या करनेवाले लोग हैं वे मरकर उन योनियों में जाते हैं जो आसुरी हैं और घोर अन्धकार से ढकी हुई हैं।

इस मन्त्र में तीन शब्दों का अर्थ विशेषरूपेण विचारणीय है। एक आत्महन या आत्महत्या करनेवाले।* दूसरा ''असुर्य'' या असुरोंवाले। तीसरा ''अन्धेन तमसा आवृताः'' या घोर अन्धकार से ढके हुए।

पिछले मन्त्र में कर्मों के बन्धन से छूटने का उल्लेख है। कर्म हमारे लिए जेलर का काम करते हैं। वे हमारी स्वतन्त्रता में बाधक हैं। ऊपर यह दिखाया जा चुका है कि कौन से कर्म हम को फंसाते हैं और

---

* आत्मा तो अमर है। अच्छेद्य है। यहाँ आत्महत्या का अर्थ है—सत्कर्मों का त्याग करके आत्मघात करना। भाव आत्मघात है आत्मा का घात नहीं। —'जिज्ञासु'

कौन से नहीं। फंसानेवाले कर्मों से हमारी उन्नति नहीं होती। वे हम को जीवन नहीं देते, किन्तु शनैः-शनैः जीवन को कम करते हैं। इस प्रकार के कर्म करनेवालों को आत्मघातक कहा है। वह अपने को मार डालते हैं।

सकामता दासत्व है—यदि हम अपने कर्मों का भली-भाँति निरीक्षण करें तो पता लगता है कि हम जो काम स्वार्थ के लिए करते हैं उन्हीं के द्वारा हमारी स्वाधीनता नष्ट होती और पराधीनता दृढ़ होती है और जो काम हम परार्थ के लिए करते हैं उनके द्वारा हम को दूसरों पर आधिपत्य प्राप्त होता है। हम स्वार्थ-प्रधान कार्य करके दासत्व खरीदते हैं। दूसरों के साथ भलाई करने का अर्थ यह है कि दूसरे हम पर कितने निर्भर हैं। **माता बच्चे के साथ जितना-जितना भलाई करती है उतना-उतना बच्चा माता के आश्रित होता है।** बच्चा माता से उस दिन स्वतन्त्र हो जाता है जब माता उसकी आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकती और वह अपने जीवन के लिए माता की आवश्यकता अनुभव नहीं करता। **देश या जाति में सब से अधिक स्वतन्त्र वह है जिस के अस्तित्व को समस्त देशवासी अपने अस्तित्व के लिए आवश्यक समझते हैं।** वही देश का वास्तविक स्वामी है, क्योंकि उस का उन के दिलों पर राज्य है। हमारा हृदय सम्राट् कौन है? वही जिसने यह सिद्ध कर दिया कि वह हमारे जीवन के लिए अत्यावश्यक वस्तु है। दासता का ही नाम मृत्यु है और स्वार्थ-प्रधान या सकाम कर्म ही हम को दास बनाते हैं। जिस काम में जितनी सकामता है उस में उतना ही दासत्व है।

एक छोटा सा उदाहरण लीजिए। आप का एक भृत्य है। वह आप की सेवा करता है? यदि वह वेतन न लेता तो निष्कामभाव से प्रतिदिन आपके घर को साफ कर जाता, आप की धोती धो जाता और आपके अन्य काम कर जाया करता तो निश्चय ही जानिए कि कितना ही तुच्छ काम क्यों न हो, आप उस को कभी दास न कहते। शनैः-शनैः आपके हृदय में उस का मान होता और आप उस को सिर पर बिठाते, परन्तु वह दास है। क्यों? इसलिए कि वेतनभोगी है। जो काम उसने किया वह परोपकार न था। जो वेतन उसने लिया वह स्वार्थ था। स्वार्थता परार्थता पर विजय पा गई, क्योंकि यदि आप वेतन न देंगे तो

वह काम न करेगा, इसलिए आपने उसे दास मान लिया। यदि वह कहे कि मैं सेवा अवश्य करूँगा चाहे वेतन दो या न दो तो शायद आप पहले पहल उस का मान न करें परन्तु जब ज्ञात हो जायेगा कि बिना वेतन के भी यह काम कर रहा है, आप उसी दिन से उस का कई गुणा मान करने लग जाएँगे। और यदि यह ज्ञात हो जाय कि वह सेवा निरन्तर करता है और देने पर भी वेतन नहीं लेता और आग्रह करने पर भी वेतन स्वीकार नहीं करता तो परिस्थिति सर्वथा विपरीत होगी। वह स्वामी होगा और आप दास।

परमार्थ में स्वामित्व—कल्पना कीजिए कि मैं बीमार हूँ। मेरा पुत्र या मेरी स्त्री मेरी सेवा करते हैं मैं उन का कृतज्ञ हूँ, परन्तु एक सीमा तक! क्योंकि मैंने भी उनके साथ पहले कुछ किया है और यदि ये मेरे लिए करते हैं तो क्या विशेषता है ? परन्तु यदि कोई अपरिचित पुरुष मेरी सेवा करने लगे तो उसके बदले में कुछ न चाहे यहाँ तक कि धन्यवाद की भी उपेक्षा करे तो मेरे हृदय में उसके लिए क्या भाव होगा ? क्या मैं उसके चरणों पर अपना मस्तक न झुका दूँगा ? ये सब उदाहरण क्या बताते हैं ? यही कि परार्थता में स्वामित्व है और स्वार्थता में दासत्व। **दासत्व ही आत्मा की मृत्यु है।***

स्वार्थी ही आत्मघ्न—इस पर थोड़ा सा और विचार कीजिए। दासत्व मृत्यु क्यों है ? साधारण भाषा में एक दास जाति को मृत जाति ही कहा करते हैं ? यह एक प्रचलित शब्द है, परन्तु इसके भीतर एक दार्शनिक भाव छिपा है। **दास-जाति वही करती है जो उसके स्वामी की आज्ञा होती है।** वह ननु नच नहीं कर सकती। उस का व्यापार सर्वथा जड़ पदार्थ के समान होता है। पैरगाड़ी मेरी दास है। क्यों ? इसलिए कि मेरी आज्ञा होते ही उसमें ननु नच करने की शक्ति नहीं है। मेरा नौकर कभी नाक-भौं तो चढ़ाता है, क्योंकि वह चेतन मनुष्य है परन्तु पैरगाड़ी तो अप्रसन्नता भी नहीं प्रकट करती, इसलिए उस को जड़ कहते हैं। चेतन का लक्षण हैं **"कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा कर्तुम्" का सामर्थ्य।** वह जब नहीं रहा तो जड़ हो गया। हमारा शरीर जब इन

* पहले दो मन्त्रों में जो कहा गया उसके विपरीत आचरण इस मन्त्र के अनुसार आत्मघात है। त्यागपूर्वक कर्म न करना, लोभ करना, कर्म न करना—यही आत्मघात है। —'जिज्ञासु'

गुणों से विहीन हो जाता है तो उस शरीर को शव या मृतक शरीर कहते हैं। इससे पता चलता है कि दासत्व आता है सकाम कर्म से, इसलिए अत्यन्त स्वार्थी मनुष्य ही आत्मघ्न या आत्मघातक है।

अब यह प्रश्न रह जाता है कि ऐसे आत्मघातक का मर कर क्या बनेगा?

उपनिषत् कहती है कि वह आसुरी योनि को प्राप्त होगा। आसुरी योनि क्या है और उस का आत्महत्या से क्या सम्बन्ध है?

हमारा भविष्य हमारे वर्तमान पर निर्भर है। जैसा काम हम अब करते हैं वैसे संस्कार ही हमारे आत्मा पर बैठते जाते हैं और वे संस्कार हमारे आनेवाले स्वभाव को बनाते हैं। यदि आज आप गाने का अभ्यास करें तो कल गवैया बनेंगे, तैराक नहीं बन सकते और यदि तैरने का अभ्यास करें तो गणितज्ञ बनने में सहायता नहीं मिलेगी। कहावत है कि मनुष्य अपना भविष्य आप बनाता है। भविष्य ही परलोक है, इसलिए यह कहना अनुचित न होगा कि मनुष्य का यही लोक-परलोक बनाता है। मैं कल वही बनूँगा जिसके बनने की चेष्टा आज कर रहा हूँ। जिस पुरुष ने समस्त आयु स्वार्थ-परायणता में ही काटी, वह भविष्य में भी ऐसा ही बनेगा।

आसुरी-योनि क्या है? इसके जानने के लिए असुर शब्द पर विचार करना चाहिए। असुर शब्द की दो प्रकार व्युत्पत्ति हो सकती है। एक तो सुर में नञ् लगाने से नञ् समाज असुर बनेगा, अर्थात् जो सुर नहीं वह असुर है। दूसरे 'असु' प्राण से भी असुर बनाते हैं। जो अपने ही प्राणों की रक्षा करता है उस को असुर कहते हैं। 'असुर' शब्द प्राण-विद्यावित् के लिए भी आया है। वहाँ इस का कुत्सित अर्थ नहीं लिया जाता। यहाँ हमारी राय में सुर का उलटा ही असुर लेना चाहिए। और असुर से ही 'असुर्यः' बना है।

सुरी और असुरी प्रवृत्तियों का बड़ा अच्छा वर्णन शतपथ ब्राह्मण के पांचवें काण्ड में किया है।

देवाश्च वाऽअसुराश्च। उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे। ततोऽसुरा अतिमानेनैव कस्मिन्नु वयं जुहुयामेति स्वेष्वेवास्येषु जुह्वतश्चेरुस्तेऽति मानेनैव पराबभूवुस्तमान्नातिमन्येत् पराभवस्य हैतन्मुखं यदति-मानः ॥ १ ॥ अथ देवाः। अन्योऽन्यस्मिन्नेव जुह्वतश्चेरुस्तेभ्यः प्रजा-

पतिरात्मानं प्रददौ। यज्ञो हैषामास यज्ञो हि देवानामन्नम्॥ २॥

ते होचुः। कस्य न इदं भविष्यतीति ते मम ममेत्येव न सम्पादयाञ्चक्रुः॥ ३॥ (शतपथ० ५।१।१-३)

प्रजापति की सन्तान देव और असुर दोनों में झगड़ा हुआ। असुरों को घमण्ड हो गया। वे कहने लगे—हम किसमें आहुति दें। उन्होंने अपने-अपने मुंह में आहुतियाँ देनी प्रारम्भ कीं। वे घमण्डवश ही पराजित हो गये, इसलिए घमण्ड नहीं करना चाहिए। घमण्ड पराजय का हेतु है॥ १॥ देवों ने क्या किया? उन्होंने एक दूसरे में आहुति देनी प्रारम्भ की, इसलिए प्रजापति उन की ओर हो गया। यज्ञ उन्हीं का हो गया। यज्ञ देवताओं की खुराक है॥ २॥ वे कहने लगे। यह यज्ञ किसी का भी नहीं है। उन्होंने यह नहीं कहा कि यह मेरा है। यह मेरा है॥ ३॥

शतपथ की इस आख्यायिका में कितनी सच्चाई है! देव वही है जो नहीं कहता कि यह मेरा है, यह मेरा है। इससे उलटा असुर है जो कहता है कि यह मेरा है, यह मेरा है। जिधर देखो उस को स्वार्थ ही स्वार्थ दृष्टिगोचर होता है। **असुरों की कोई विशेष योनि नहीं है। मनुष्यों में देव और असुर दोनों हैं और साधारण मनुष्यों में से प्रत्येक कभी देव और कभी असुर हो जाता है।** जिन में 'आसुर्य' की प्रधानता है वह नित्य अपना ही अपना करते रहते हैं। उन की स्त्री इसलिए स्त्री है कि उनकी सेवा करती है। उन का पुत्र इसलिए पुत्र है कि वह उनके सुख की सामग्री जुटाता है। उनके वही मित्र हैं जो उनकी स्वार्थसिद्धि करते हैं। ऐसे पुरुषों को अनुत्तरदाता (irresponsible) कहा है, क्योंकि सब उनके लिए उत्तरदाता हैं। वे किसी के लिए उत्तरदाता नहीं। उन का सब पर अधिकार है। उन पर किसी का अधिकार नहीं। ऐसी आसुरी प्रकृति के लोग बाहर तो क्या परिवार में भी सन्तुष्ट नहीं रह सकते और यदि उनके स्वार्थ की मात्रा बहुत बढ़ जाती है तो संसार तंग आ जाता है और प्रकृति की समस्त शक्तियाँ उनके पराभव में यत्नशील हो जाती हैं। संसार के बड़े-बड़े विजेताओं का इतिहास पढ़िए। उन्होंने अपनी विजय-दुन्दुभि बजाने से पूर्व दूसरों का हित-चिन्तन किया और दूसरे उनके झण्डे के नीचे आ गये परन्तु जब "अभिमान" के कारण उन्होंने अपने मुंह में आहुतियाँ डालनी आरम्भ

कीं तो संसार तंग आ गया और किसी न किसी दैवी शक्ति ने उनको सदा के लिए सुला दिया। लोग प्राय: शङ्का किया करते हैं कि हवन में आहुति देने की अपेक्षा घी को खाया क्यों न जाय। शतपथ में इस का उत्तर है—अपने मुंह में आहुति देना आसुरीपन है और अग्नि में दूसरों में दूसरों के लिए आहुति देते हुए 'इदन्न मम'—"यह मेरा नहीं" ऐसा कहना देवतापन है।

एक-दूसरे के लिए—उपनिषत् में इसके अगले मन्त्र में इन्द्रियों को देवता कहा है, क्योंकि यह अपने मुँह में आहुति देने के बजाय 'अन्योन्यस्मिन्' एक दूसरे के लिए काम करते हैं। **आँख मुंह के लिए देखती है और मुंह आँख के लिए खाता है।** इसी प्रकार यदि संसार के सब लोग एक-दूसरे के उपकार में तत्पर हो जाएँ तो संसार असुरों से खाली होकर देवस्थान बन जाए।*

परन्तु यह मार्ग सुगम नहीं है। सावधानी हटते ही आसुरीपन आ जाता है और उसी के वशीभूत होकर हम पराजित होते हैं। जब आयुभर स्वार्थी बने रहे तो हमारा सूक्ष्म शरीर वैसा ही हो जाता है और मरने के उपरान्त हम उसी प्रकार की योनि प्राप्त करते हैं।

पशुता से पशु योनि में—आसुरी योनियाँ कौन सी हैं? मनुष्य योनि उभय योनि है। आसुरी भी और दैवी भी। इसमें दोनों वृत्तियों के बीज रहते हैं। इनके विकास की योग्यता होती है। यदि हमने स्वार्थ-त्याग की प्रवृत्ति बढ़ाई तो मरने के समय तक आसुरी प्रवृत्ति का क्षय और देवी प्रवृत्ति की समृद्धि हो जाती है और यदि आसुरी प्रवृत्ति ने विकास किया तो नाम के मनुष्य और भीतर से पशु बन जाते हैं। **'मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति'** और जब मरते हैं तो पशुयोनि को प्राप्त होते हैं।

वर्तमान का अभ्यास ही दूसरे जन्म का कारण—पशु-योनियाँ ही वस्तुत: **'अन्धेन तमसा'** अर्थात् अन्धकार से आवृत हैं। उनमें स्वार्थता बढ़ती ही जाती है और परार्थता के विकास के अवसर नहीं मिलते। **पशु सब कुछ अपने लिए करता है दूसरे के लिए नहीं।** उस

---

* शरीर धर्म का साधन है। देह का दुरुपयोग भी आत्मघात है। यदि लोक नहीं सुधारा तो परलोक बिगड़ेगा ही। अन्धकार से आवृत्त योनि में जाना निश्चित है। —'जिज्ञासु'

का परिवार नहीं होता। माता अवश्य अपने बच्चे को बहुत प्यार करती है, परन्तु थोड़े ही दिन। उसके पश्चात् माता के स्नेह के विकास के भी अवसर कम हो जाते हैं और परिवार, देश, जाति, वंश आदि जहाँ कुछ-कुछ परार्थता के विकास के साधन हो सकते थे वे पशु-योनियों में होते ही नहीं हैं। ऐसी योनियाँ वस्तुतः अन्धकारयुक्त हैं। वहाँ प्रकाश के लिए स्थान नहीं है। यह ठीक है कि पशुओं में भी भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ हैं। सिंह और बन्दर में भेद है। चींटी और चीते एक सी प्रवृत्ति नहीं रखते। **इस प्रकार अन्धकार और अज्ञान की भी श्रेणियाँ हैं,** परन्तु ये सब श्रेणियाँ हमारी वर्तमान जीवन-शैली पर निर्भर हैं। **हम अपने इसी जन्म में भेड़िया, कुत्ता, गिद्ध, चींटी, सिंह आदि की प्रवृत्तियाँ बनाने का अभ्यास डालते हैं** और जैसा अभ्यास पड़ता है वैसा ही दूसरा जनम मिलता है।

यदि हम दूसरे जन्म में असुर बनना नहीं चाहते तो इस जन्म में असुर बनना छोड़ दें। यदि इस जन्म में निष्काम कर्म करने का स्वभाव डालेंगे तो देवत्व आता जायेगा और हमारा भविष्य अन्धकारमय न होकर उज्ज्वल और प्रकाशमय होगा। हम किंकर्त्तव्यविमूढ़ न होकर अपने मार्ग को भली-भाँति देख सकेंगे।

❑❑

४

**अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥**

(१) अनेजत्=न चलता हुआ। (२) एकम्=एक
(३) मनसः जवीयः=मन से भी तेज़ (४) न=न, नहीं
(५) एनत्=इस को (६) देवाः=ये इन्द्रियाँ भी।
(७) आप्नुवन्=पा सके (८) पूर्वम्=पहले
(९) अर्शत्=चलते हुए (१०) तत्=वह
(११) धावतः=दौड़ते हुए (१२) अन्यान्=दूसरों को
(१३) अत्येति=पीछे छोड़ देता है (१४) तिष्ठत्=ठहरा हुआ भी।
(१५) तस्मिन्=उस में (१६) अपः=कर्मों को
(१७) मातरिश्वा=जीव (१८) दधाति=रखता है।

अन्वयार्थ—वह एक है, अचल है, मन से भी तेज़ है। वह पहले ही से आगे बढ़ा हुआ है। इसलिए उस का देव या इन्द्रियाँ पार नहीं पा सकतीं। वह ठहरा हुआ भी दूसरे दौड़ते हुओं से आगे बढ़ जाता है। जीव उसी में कर्मों को रखता या अर्पण करता है।

यहाँ सब से पहले कुछ शब्दों का अर्थ लिखना आवश्यक है। देव का अर्थ इन्द्रियाँ भी हैं और विद्वान् भी। मेरी समझ में यहाँ दोनों उपयुक्त हैं। मन के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध है। इसलिए इन्द्रियों का प्रसंग अच्छा जान पड़ता है, परन्तु पिछले मन्त्र में 'असुर्य' शब्द के साथ देव या विद्वान् संगत लगता है। 'अर्शत्' दो प्रकार से बना है या तो "ऋश गतौ" से जिसका अर्थ है "आगे बढ़ता हुआ।" या "रिश हिंसायाम्" रिशति नश्यति रिशत् न रिशत् अरिशत् अर्शत्। "धातोरिकारलोपश्छान्दसः।" इस का अर्थ है हिंसा न करनेवाला, परन्तु "पूर्व" शब्द के होने से प्रतीत होता है कि अर्शत् को यहाँ 'ऋश गतौ' से ही बनाना चाहिए।

"अपः" का अर्थ है कर्माणि। (अपः कर्माणि आप्यन्ते सुख-

दु:खानि याभिस्ता आप: कर्माणि।)

'मातरिश्वा' का अर्थ वायु किया जाता है। "मातरि अन्तरिक्षे श्वयति वर्धते इति वायु:।" जो अन्तरिक्ष में बढ़े या गति करे। यहाँ वायु का प्रसंग कुछ ढीला-ढाला है। मेरी समझ में 'मातरिश्वा' का अर्थ है जीव। **"मातरि निर्मातरि ईश्वरे श्वयति वर्धत इति जीव:।"** इसी उपनिषत् के १५वें मन्त्र में 'वायु शब्द भी जीव के अर्थ में आया है। जीव है भी एक प्रकार से 'अन्तरिक्ष' में ही। (अन्त: ईश्वर-प्रधानयोर्मध्ये ईक्ष्यते, ईक्ष कर्मणि घञ्। अथवा अन्तरा पुरुष-प्रकृत्यो: क्षान्तम् अवस्थितं भवति। अथवा शरीरेष्वन्त: अक्षयं न पृथिव्यादिवत् क्षीयते)।

ये आसुरी योनियाँ किसलिए?—पिछले मन्त्र में आसुरी प्रवृत्ति के दोष और फल बताये गये। इस मन्त्र में स्वभावत: दैवी प्रवृत्ति का उल्लेख होना चाहिए। **जो "तेन त्यक्तेन" भोगनेवाले हैं वे देव हैं,** परन्तु आसुरी प्रवृत्ति और दैवी प्रकृति के बीच बहुत बड़ा अन्तर है। असुर तुरन्त ही देव नहीं बन जाते। यात्रा बड़ी लम्बी है। इस यात्रा के लिए दस-पाँच साल नहीं अपितु कई जन्म चाहिएँ। वस्तुत: भिन्न-भिन्न आसुरी योनियाँ जो अन्धकार से आवृत हैं इसी यात्रा के ठिकाने हैं। मनुष्य आसुरी प्रवृत्तियों को बढ़ाकर आसुरी योनियों को ही प्राप्त कर सकता है। इन्हीं को पशु, पक्षी, कीट, पतंग की योनियाँ कहते हैं। यहाँ प्रश्न होता है कि इन योनियों का क्या उपयोग है? सृष्टि या परमात्मा इतना क्रूर क्यों है कि ऐसी अन्धकारमय योनियाँ देता है।

पशुओं के स्वार्थ की सीमा है—वस्तुत: यदि हम विचार करें तो इनका बहुत बड़ा उपयोग है। जिसने प्रकाश में रहकर अपनी शक्तियों का दुरुपयोग किया हो उसके लिए तो अन्धकार उचित ही है। **दु:खती हुई आँखों को प्रकाश अप्रिय और हानिकारक तथा अन्धकार प्रिय और हितकर होता है।** पशुयोनियों में दो विशेषताएँ हैं एक अज्ञान और दूसरी विस्मृति। पशु स्वार्थी है, परन्तु सीमित मात्रा में। सिंह दो चार प्राणियों को खा सकता है परन्तु ज्ञानी मनुष्य के समान हजारों को मारनेवाले शस्त्र नहीं बना सकता। फिर उस स्वार्थ की पूर्ति करने में उसके लिए सैकड़ों बाधाएँ हैं। यदि सिंह या भेड़िया संहार करना भी चाहें तो भी नहीं कर सकते। इनकी शक्ति अति अल्प है। इनका ज्ञान

बहुत सीमित है। फिर इस के साथ 'विस्मृति' तो सोने पर सुहागे का काम करती है। पशु शीघ्र ही भूल जाता है। इस प्रकार पुराने संस्कार छूट जाते हैं और शनैः-शनैः जीव की दशा में उत्क्रान्ति होती रहती है। पशु करता तो है परन्तु उस का प्रयत्न नैसर्गिक होता है। वह पूर्व-निश्चित कार्य (Premeditated and well-planned actions) नहीं कर सकता या बहुत ही कम मात्रा में कर सकता है। इससे दो बातें होती हैं। पहले तो स्वार्थता की पूर्ति में बाधा पड़ी और उस बाधा के दूर करने का उसके पास साधन नहीं। फिर इस बाधा की स्मृति भी बहुत लम्बी नहीं होती। वह निराशा शीघ्र ही विस्मृत हो जाती है। इसके समझने के लिए हम कुछ-कुछ बच्चों का उदाहरण ले सकते हैं। बच्चों की इच्छाओं की पूर्ति में बहुत सी बाधाएँ होती हैं, परन्तु वे शीघ्र ही भूल जाते हैं और उन का मन दूसरे काम में लग जाता है। बच्चा अपनी मृत माता को जितनी जल्दी भूल जाता है उतनी जल्दी बड़े नहीं भूलते। पशु-पक्षियों के साथ उसी अनुपात में वही बात लागू होती है। बड़े पशु छोटे बच्चों से पीछे हैं और कीट-पतंग उन से भी बहुत पीछे। इन दो बातों से आसुरी प्रवृत्तियों का क्षय होने लगता है और जब फिर मनुष्य जन्म लेता है तो दैवी प्रवृत्तियों को विकसित करने का अच्छा अवसर प्राप्त हो जाता है।

ये योनियाँ धोबी घाट—एक और उदाहरण से अच्छा समझ में आता है। एक कपड़ा मैला है उस को आप किसी रंग में रंग नहीं सकते। आवश्यक है कि पहले धोबी से धुला लिया जाय फिर उस पर रंग चढ़ाया जाये। **पशु-पक्षी की योनियाँ किसी-किसी अंश में धोबी के घाट हैं वहाँ** मैल काटा जाता है। कल्पना कीजिए कि एक लड़का तीतरबाज है। आप उसे पढ़ाना चाहते हैं। तीतरबाजी की भावना उसे पढ़ने नहीं देती। आप उसे दण्ड दे सकते हैं, परन्तु दण्ड बेकार है। वह अपनी बुरी आदतों से मजबूर है। यदि किसी प्रकार आप उस के मस्तिष्क से तीतरबाजी को सर्वथा भुला सकें तो आप फिर उस को पढ़ने में भली-भाँति लगा सकेंगे। यदि आपके हाथ में कोई ऐसी कल होती जिससे बुरी आदतों के संस्कार आप अपने बच्चों से सर्वथा भुला सकते तो आप का मार्ग कितना सुगम हो जाता? पशु-पक्षी तथा कीट-पतंगों की योनियाँ यही काम करती हैं। मैल को धोना इनका

काम है।

स्वार्थ व परार्थ—परन्तु स्वार्थता से परार्थता तक पहुँचने के लिए साधन चाहिएँ और समय चाहिए! मानवी समाज में स्वयं कुछ साधन उपस्थित हैं। कोई मनुष्य- समाज उस मनुष्य को रहने नहीं देता जो सौ प्रतिशत स्वार्थी है। मनुष्य-समाज में रहने मात्र के लिए कुछ परार्थता आवश्यक है और समाज का भूषण बनने के लिए तो और अधिक चाहिए। यह सब कुछ सामाजिक संगठन से हो जाता है। मनुष्य-समाज का सांसारिक जीवन इस काम को करता रहता है। कृषि, व्यापार, गृहस्थाश्रम सम्बन्धी कार्य, राज्य का शासन यह सब मनुष्यों में कुछ न कुछ परार्थता उत्पन्न करते हैं और कुछ नहीं तो स्वार्थता के मार्ग में रोड़े ही अटकाया करते हैं। यही क्या कम है ? इससे कुछ तो सुधार होता ही है।

परन्तु आदर्श त्यागमय जीवन केवल समाज के बस में नहीं है। वह एक साधन है परन्तु साधारण साधन। वह एक ऊपरी चीज है, सामाजिक भय सर्वथा बाह्य है। इसके लिए कोई अन्य शक्ति चाहिए जो आन्तरिक प्रभाव रख सके। मनुष्य की प्रवृत्तियों को भीतर से बदल सके। इसी शक्ति की ओर प्रथम मन्त्र में संकेत किया गया था। यहाँ बताया गया था कि जगत् चंचल और गतिशील है। उसमें व्यापक एक अचल सत्ता से सम्बन्ध करने से ही "**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः**" पर पूरा व्यवहार हो सकता है। जो बात सूत्ररूप से प्रथम मन्त्र में कही गई, उसी का विस्तार से इस मन्त्र तथा इससे अगले मन्त्र में वर्णन है।

व्यापक चलायमान कैसे ?—पहली बात तो यह बताई गई कि वह तत्त्व एक है। एक होने के लिए 'अचल' होना आवश्यक है। **जो सर्वत्र व्यापक सत्ता है वह एक ही हो सकती है। दो नहीं।** दो का सर्वत्र व्यापकत्व कैसा ? और जो व्यापक है वह "चलायमान" कैसे ? क्योंकि चलायमान होने के लिए वह स्थान चाहिए जहाँ वह वस्तु न हो। **कोई वस्तु वहाँ गति नहीं कर सकती जहाँ वह न हो।** जहाँ नहीं है वहाँ गति कैसे करेगी ? जो मनुष्य पटना में बैठा है वह लाहौर में कैसे गति करेगा ? परन्तु जो वस्तु जहाँ है वहाँ भी गति नहीं कर सकती। मैं यदि कुर्सी पर बैठा हूँ तो जहाँ बैठा हूँ वहाँ गति कदापि नहीं हो सकती।

(a) A thing does not move where it is.

and

A thing does not move where it is not.

यह भ्रम हो गया—बहुत से लोगों ने इसी युक्ति के आधार पर भ्रम से यह अनुमान लगाया है कि यदि एक वस्तु जहाँ है वहाँ गति नहीं कर सकती और जहाँ नहीं है वहाँ गति नहीं कर सकती तो इस का यही परिणाम निकाला जा सकता है कि वह वस्तु गतिशील है ही नहीं और जिस को हम गति कहते हैं वह भ्रम है, मिथ्या है। इसीलिए जगत्, अर्थात् गतिशील पदार्थों को मिथ्या या भ्रम कहा है।

(b) If a thing does not move where it is and does not move where it is not, then surely it does not move at all.

परन्तु इस युक्ति में दोष है। यह ठीक है कि एक वस्तु जहाँ है वहाँ गति नहीं कर सकती, परन्तु वह जहाँ है **वहाँ से** जहाँ नहीं है **वहाँ को** गति कर सकती है।

(c) A thing moves from where it is to where it is not.

सर्वव्यापक कहाँ गति करे ?—इससे दो सिद्धान्त निकले। जो वस्तु कहीं नहीं है वह भी नहीं चल सकती और जो सर्वत्र है वह भी कहीं नहीं चल सकती। **जो एक स्थान पर है अन्य पर नहीं, वही गति करेगी।** ईश्वर सर्वव्यापक होने से (ईशावास्यमिदं सर्वम्) सब जगह है इसलिए वह "अनेजत्" अर्थात् गतिशून्य है।

इस अचल, नित्य, एकरस तत्त्व का ही मनुष्य को ध्यान करना है, यदि वह आदर्श त्यागी बनना चाहता है। साधारणतया मनुष्य का संसर्ग अनित्य क्षणिक पदार्थों से होता है। हमारा मन इन्हीं क्षणिक पदार्थों में लगा रहता है। मन को संसार की समस्त वस्तुओं से अधिक तेज कहा है, प्रकाश एक सैकण्ड में एक लाख ८६ हजार मील चलता है, परन्तु मन की गति उस से भी तीव्र है। ऐसे मन को रोकना कैसे चाहिए ? कौन ऐसी वस्तु है जो मन को हरा सकती है और उस को ठहरा सकती है ? **मन उसी से हार मानेगा जो उस से तेज हो। उस से तेज वही तत्त्व हो सकता है जो सर्वत्र व्यापक हो।** इसीलिए कहा कि ईश्वर ठहरा हुआ भी मन से तेज है। मन जहाँ जायेगा उस को वहाँ

ईश्वर मिलेगा। जिस गतिशील वस्तु का ध्यान करेगा उसी में गति-रहित नित्य तत्त्व को पाएगा। इस तत्त्व का अन्त पाना सम्भव नहीं। इन्द्रियाँ इसके अन्त को नहीं पा सकतीं, क्योंकि वह वहाँ पहले से ही उपस्थित रहता है, जहाँ तक इन्द्रियाँ गति कर सकती हैं। या विद्वान् लोग उस का पार नहीं पा सकते, क्योंकि जिस उत्क्रान्त अवस्था के लिए विद्वान् लोग तैयारी करते हैं उस अवस्था पर वह ईश्वर को पहले से पाते हैं। कल्पना कीजिए कि एक बड़ा विद्वान् अध्यापक है। विद्यार्थी अपनी-अपनी कल्पना करके अपने ज्ञान में उत्तरोत्तर वृद्धि करना चाहते हैं। वे आगे बढ़ते हैं। रोज नई-नई बातें खोजते हैं, परन्तु जिस को वे नई कहते हैं वह अध्यापक के लिए पुरानी है। वह उस को पहले से ही मालूम है। यही अनुपात विद्वानों तथा ईश्वर का है। जिस ज्ञान को विद्वान् बड़ी तपस्या से प्राप्त करते हैं वह चेतन तथा व्यापक होने के कारण ईश्वर को पहले से ही प्राप्त है। यही नहीं, वह इससे भी आगे है। वे दौड़ते हैं और यह नहीं दौड़ता, परन्तु जहाँ तक ये दौड़कर पहुँचते हैं वहाँ से भी वह उस को आगे पाते हैं।

तत् तिष्ठत् अपि धावतः अन्यान् अत्येति।

वह ठहरा हुआ भी अन्य दौड़नेवाले से बाजी मार लेता है। नित्य तत्त्व से आगे किसी की गति नहीं है। वह गति की पराकाष्ठा है।

फिर क्या करना चाहिए ? देव बनने के लिए परार्थता ग्रहण करने और स्वार्थता छोड़ने की आवश्यकता है। आसुरी योनियों से बचने का यही एकमात्र उपाय है। इसके लिए हम को ऐसे तत्त्व का ध्यान करना होगा जो अपने लिए कुछ नहीं करता। प्रत्येक कर्म औरों के लिए ही करता है। **ईश्वर सब जगत् की सभी गतियों में व्यापक है, परन्तु ये गतियाँ उसके लिए नहीं किन्तु जीवों के लिए हैं।** समस्त जगत् उन्हीं के लिए है, इसलिए यदि हम अपने समस्त कर्म उसी के लिए अर्पण कर दें तो हम से भी स्वार्थता छूट सकती है। इसीलिए कहा कि "तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति" अर्थात् जीव अपने कर्मों को उसी में आधारित करता है। यही देव बनने का साधन है। जो मनुष्य अपने कर्मों को ईश्वरार्पित नहीं करता। उसमें स्वार्थ तथा आसुरीपन रहेगा और उस को इस का फल भोगना पड़ेगा। इन्ही भावों को कुछ-कुछ दूसरे रूप में गीता के निम्न श्लोकों में दिखाया गया है—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ —गीता १२ । ६-७

"Duty for duty's sake" अर्थात् कर्त्तव्य को कर्त्तव्य के लिए ही पालन करो न कि किसी फल की आकांक्षा से, यह सर्वत्र ही सदाचार का सर्वोत्कृष्ट आदर्श है । कर्त्तव्य क्या है ? जगत् की मशीन का अपने को एक पुर्जा समझकर उस को चलाने की चिन्ता करना, यह समझना कि हमारा कर्त्तव्य अपनी स्थिति देखना नहीं, किन्तु मशीन की स्थिति देखना है । यह तो सब से उत्कृष्ट रीति से तभी होगा जब हम उस मशीन में व्यापक परमात्मा के अर्पण सभी कर्म कर देंगे ।

□□

५

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ ५ ॥

(१) तत्=वह ईश्वर
(२) एजति=चलाता है।
(३) तत्=वह
(४) न एजति=स्वयं नहीं चलता।
(५) तत्=वह
(६) दूरे=दूर है
(७) तत्=वह
(८) उ अन्तिके=समीप भी है।
(९) तत्=वह
(१०) अस्य सर्वस्य=इस सब के
(११) अन्तः=भीतर है
(१२) तत् उ=वह
(१३) अस्य सर्वस्य=इस सब के
(१४) बाह्यतः=बाहर भी है।

अन्वयार्थ—वह चलाता है चलता नहीं। वह दूर है। वह निकट भी है। वह इस सब के भीतर भी है और बाहर भी।

रचना का वैज्ञानिक स्वरूप—इस मन्त्र में विरोधाभास अलंकार है। एजति, न एजति; (चलता है, नहीं चलाता), दूरे, अन्तिके (दूर है, पास है, अन्तः बाह्यः, भीतर है, बाहर है)। सृष्टि भी विरोधाभास अलंकार से अलंकृत है। साधारण दृष्टि से इसमें एक-दूसरे से विरोधी वस्तुएँ मिलती हैं। सुख हैं, दुख हैं, हर्ष है, शोक है, ज्ञान है, अज्ञान है। एकता है, अनेकता है। इसीलिए बहुत से लोगों को शंका होती है कि यह सृष्टि किसी बुद्धिमती सत्ता की बनाई हुई नहीं हो सकती। यदि ईश्वर दयालु है तो तो दुःख क्यों है। यदि क्रूर है तो दया का क्या अर्थ

है, परन्तु वस्तुतः विरोध नहीं है विरोधाभास है, अर्थात् अज्ञानियों को विरोध प्रतीत होता है, वस्तुतः है नहीं। **दया और दण्ड दोनों में समन्वय है। साधारण दृष्टि से देखनेवाले की समझ में नहीं आता कि किसी अच्छे राजा के राज में हस्पताल और फांसी-घर दोनों क्यों होने चाहिए?** हस्पताल जीवन-वृद्धि के लिए है। फांसी-घर जीवन का अन्त करने के लिए। ये दोनों परस्पर विरुद्ध बातें कैसी?* परन्तु जो शासनविधि को समझते हैं वे कह सकते हैं कि हस्पताल और फांसी-घर दोनों में समन्वय है। दोनों जीवन की वृद्धि के लिए हैं। हस्पताल रोगों को नाश करके जीवन देते हैं। फांसी-घर उन आदमियों का अन्त करते हैं जो दूसरों के जीवन में बाधक हों। **हस्पताल रोग के कृमियों के लिए फांसी-घर हैं और फांसी-घर छह फुट लम्बे रोग-कृमियों को दूर करने के हस्पताल हैं।** चीज एक ही है केवल श्रेणी का भेद है। रेल के इंजन को देखो उस में दोनों प्रकार के यन्त्र हैं एक इंजन चलाने का और दूसरा इंजन रोकने का। यदि केवल इंजन चलाने का ही यन्त्र होता और रोकने का न होता तो कोई मनुष्य रेल में यात्रा करना न चाहता। इसलिए वास्तविक विरोध और विरोधाभास का भेद समझना अत्यावश्यक है। सृष्टि के भेदों में समन्वय खोजना ही बुद्धिमानों का कर्त्तव्य है।

अब मन्त्र के अर्थों पर विचार कीजिए। पिछले मन्त्र में जीव के लिए (मातरिश्वा) शब्द आया है, अर्थात् जीव की वृद्धि या समृद्धि जगत्-निर्माता ईश्वर के आश्रित है। अपने सब काम उसी को अर्पित करके करने चाहिएँ। यही "**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः**" का अर्थ है। इस मन्त्र में बताया गया है कि जीव का ईश्वर के साथ वह कौन सा सम्बन्ध है जिसके द्वारा यह उद्देश्य सिद्ध हो सकता है और जिसके बिना इस उद्देश्य की पूर्ति में बाधा पड़ती है।

पहली बात यह कही गई कि ईश्वर चलाता है (एजति)। किस को? समस्त जगत् को! जड़ को भी और चेतन को भी! जड़ वस्तुओं के चलाने से भी जीव को प्रयोजन है, परन्तु अधिक प्रयोजन ईश्वर के उस गुण से है जिस के द्वारा वह जीव को भीतर से प्रेरणा किया करता

---

* ईश्वर के स्वरूप और उसकी सृष्टि को जानने के लिए इस मन्त्र से बढ़कर कोई भी ज्ञान विज्ञान नहीं है। —'जिज्ञासु'

है। हमारे भीतर बहुत सी ऐसी वृत्तियाँ जाग्रत् हुआ करती हैं जिन के निर्माता हम स्वयं नहीं हैं। मनोविज्ञान के विशेषज्ञों ने इन वृत्तियों को भिन्न-भिन्न प्रकार से समझाने का प्रयत्न किया है। कुछ ऐच्छिक (Voluntary) हैं और कुछ अनैच्छिक (involuntary)। वे कौन से कारण हैं जिनसे अनैच्छिक वृत्तियाँ उठ खड़ी होती हैं? यह एक जटिल प्रश्न है और उसकी विवेचना के लिए यह स्थल उपयुक्त है। केनोपनिषत् में प्रश्न उठाया है—

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः ?

मन को कौन प्रेरित करता है? फिर इस का उत्तर दिया है कि मन को प्रेरित करनेवाली वह सत्ता है जिस को मन का भी मन (मनसो मनः) कह सकते हैं। यह भीतर की आवाज उसी महती सत्ता की आवाज है। यह प्रेरणा है जो हमारे सब के हृदय में होती रहती है, परन्तु जो इस को सुनते हैं और इसकी महत्ता को समझते हैं वे अपने कर्मों को इसके अर्पण कर सकते हैं।

दूसरों की प्रेरणाएँ मनुष्यों को हानिकारक भी हो सकती हैं, क्योंकि उनके उद्देश्य हमारे उद्देश्य के समान परिवर्तनशील तथा क्षणिक हैं। अल्पज्ञ जीव में पूर्णज्ञता नहीं और बिना पूर्णज्ञता के स्थिरता नहीं होती। **केवल पूर्णज्ञ ही स्थायी हो सकता है, क्योंकि वह अखण्ड, एकरस और परिवर्तन-शून्य है। इसीलिए कहा है कि वह स्वयं चलायमान नहीं होता। (तन्नैजति)।**

वह दूर भी है और समीप भी। उस को तलाश करने किसी दूरस्थ स्थान में नहीं जाना। जो उसकी तलाश में मारे-मारे फिरते हैं वे अज्ञ हैं। वह तो प्रत्येक के निकट है, लेकिन एक दृष्टि से वह दूर बहुत है। हम खोजते-खोजते थक जाते हैं और उस का पार नहीं पा सकते। वह भीतर भी है और बाहर भी। भीतर किस के? इस सृष्टि के अर्थात् इस सृष्टि की सभी क्रियाओं में हम उस की सत्ता को देख सकते हैं। बाहरीपन और भीतरीपन यहाँ केवल देश सम्बन्धी ही नहीं है। यह सत्ता मूलरूपेण हर चीज में विराजमान है।

बहुत से ईश्वर-भक्तों को इस प्रकार की व्यापकता पर आपत्ति है। वह इस को ईश्वर का अपमान समझते हैं। क्या ईश्वर गन्दी चीज़ में भी है? यह तो बहुधा बालक और अशिक्षित भी पूछा करते हैं और

पूछकर हँस पड़ते हैं, परन्तु अनेक विद्वान् भी समझते हैं कि प्रपंच में व्यापक होकर ईश्वर निर्विकार नहीं रहता। जो सत्ता नित्यप्रति हमारे जीवन की छोटी-बड़ी समस्याओं में हस्तक्षेप किया करे और जिसके बिना हम साँस भी न ले सकें वह निर्विकार कैसा? कुछ धर्मनिष्ठ विद्वानों का विचार है कि ईश्वर एक बड़ी उत्कृष्ट सत्ता है। वह हमारे झगड़ों में नहीं पड़ती। वह संसार से बहुत ऊपर है। उस का संसार की उत्पत्ति से क्या सम्बन्ध?

विद्युत् मैली होती है क्या?—परन्तु उपनिषत् ऐसा नहीं कहती। यहाँ तो कहा गया है कि यह सत्ता मैली चीजों में व्यापक होते हुए भी मैला नहीं होती है। विद्युत्-शक्ति कितनी वस्तुओं में व्याप्त है? परन्तु क्या वह मैला हो जाती है? यदि ईश्वर हम पर दया करने मात्र से विकारी हो जाता है तो दया एक विकारयुक्त भाव ठहरा। फिर क्या जड़ वस्तु को निर्विकार कहेंगे?

उस माता का क्या करें?—जो ईश्वर हमारी सृष्टि को नहीं बनाता, हमारे झगड़ों में नहीं पड़ता, हम से प्रेम नहीं करता, उस ईश्वर के अस्तित्व के विषय में भी हम कैसे जान सकते हैं? **उस माता से हम को क्या प्रयोजन जिसने हम को जाना नहीं, हमारा पालन नहीं किया हमारे दुःख-दर्द को दूर नहीं किया?** यदि ऐसी कोई माता है तो हुआ करे। हम को उस का ज्ञान भी नहीं।

विकार का अर्थ—जो लोग समझते हैं कि ईश्वर जगत् से बाहर कोई बड़ी उत्कृष्ट सत्ता है उन्होंने कभी उत्कृष्टता के अर्थों पर विचार नहीं किया। हम पूछते हैं कि क्या ऐसे ईश्वर का उन को ज्ञान है, या नहीं? यदि कहो कि है तो तुम्हारे अर्थों में "ज्ञेय" होने के कारण ऐसा ईश्वर विकारी हो जाएगा। यदि कहो कि उस का कुछ भी ज्ञान नहीं तो उसके विषय में बात क्यों करते हो? वस्तुतः विकार शब्द का अर्थ है कि सत्ता में किसी प्रकार का परिवर्तन हो जाय, जैसे दूध में विकार होकर दही बन जाता है या हमारे मनों में विकार होने से हम अनिष्ट भावनाओं के शिकार हो जाते हैं। **ईश्वर हम से प्रेम करता है परन्तु मोह में नही फंसता।** सृष्टि को बनाता तो हैं, परन्तु अपने में किसी प्रकार का विकार नहीं आने देता।

कठोपनिषद् में इसी विषय में भौतिक जगत् से एक अच्छा उदाहरण

देकर समझाया है—

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥

(कठोपनिषत् अध्याय २ । वल्ली ५ । म० ११)

जैसे सूर्य संसार की आँख है परन्तु उसमें आँख के दोष नहीं लगते। इस प्रकार सब भूतों के भीतर जो आत्मा है वह उन भूतों के बाहरी दोषों से विकारी नहीं होता।

हाँ एक बात है। सृष्टि सान्त है। यदि ईश्वर केवल सृष्टि के भीतर ही होता है तो वह भी सान्त ठहरता। इसलिए कहा है कि वह सृष्टि के बाहर भी है। "भीतर" कहने से सीमित हो जाता है, परन्तु बाहर कहने से अन्त या सीमा का निषेध हो जाता है। ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता है, परन्तु इतना ही नहीं है। ईश्वर सृष्टि का ज्ञाता है, परन्तु इतना ही नहीं है। ईश्वर मुझ से प्रेम करता है, परन्तु इतना ही नहीं है। जो देश, काल, वस्तु या क्रिया हमारी कल्पना में आ सकती है उसमें व्यापक है, परन्तु उतना ही नहीं है। वह अनन्त है। उस का अन्त नहीं। यदि अन्त होता तो प्रश्न उत्पन्न होता कि जहाँ उस का अन्त है उसके आगे क्या है? जो कुछ होता वह उस से बाजी ले जाता, परन्तु ईश्वर की कोई सीमा नहीं है। ईश्वर विशाल है। इतना विशाल है कि उसकी विशालता का अन्त नहीं। वह आकाश के समान विशाल है। पक्षी आकाश में उड़ता है। यह आकाश उस को आह्लाद देता है। वह चारों ओर घूमता है। इधर उड़ता है, उधर जाता है। फिर थककर बैठ जाता है। ईश्वर की सत्ता भी इसी प्रकार की है।*

❑❑

---

* ईश्वर हमारे भीतर बाहर है। वह दूर से दूर और निकट से निकट है। सर्वव्यापक व सर्वज्ञ होने से भी ईश्वर के बारे में यह मानना पड़ता है। उसका कहीं आना व जाना हास्यास्पद है। वह कहाँ आयेगा? वह जायेगा कहाँ? वह दूर से दूर और निकट से निकट उसकी खोज में कहीं किसी स्थान की यात्रा यह कोरा अन्ध विश्वास है। मन्त्र का सार यही है। —'जिज्ञासु'

६,७

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति॥ ६॥
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥ ७॥

(१) यः तू=जो कोई

(२) सर्वाणि भूतानि=सब प्राणियों को

(३) आत्मन्नेव=(व्या०-सप्तम्याः लुक्)=आत्मा में ही

(४) अनुपश्यति=अनुभव करता है।

(५) सर्वभूतेषु च=और सब प्राणियों में

(६) आत्मानं=आत्मा को

(७) ततः=तो

(८) न विचिकित्सति (व्या—'कित् रोगापनयने संशये च' इति धातोः 'गुप्तिज्किद्भ्यःसन्। इति स्वार्थे सन्प्रत्ययः')=वह सन्देह-मुक्त हो जाता है।

अन्वयार्थ—जो सब प्राणियों को आत्मा में अनुभव करता है और सब प्राणियों में आत्मा को। वह सब सन्देहों से मुक्त हो जाता है।

(१) यस्मिन्=जिसमें (जिसके हृदय में)।

(२) सर्वाणि भूतानि=सब प्राणी

(३) आत्मा एव=आत्मा ही

(४) अभूत्=हैं

(५) विजानतः=जाननेवाले के

(६) तत्र=उसके हृदय में

(७) कः मोहः=कैसा मोह (८) कः शोकः=कैसा शोक

(९) एकत्वम्=एकता को (१०) अनुपश्यतः=देखनेवाले के।

अन्वयार्थ—जो सब प्राणियों को आत्मा ही समझकर सब में एकता अनुभव करता है उस को कोई मोह या शोक नहीं हो सकता॥ ७॥

इन दोनों मन्त्रों की कुञ्जी एक शब्द है, अर्थात् ''एकत्व''। इसी एकत्व की दोनों मन्त्रों में विस्तार से व्याख्या की गई है। यह 'एकत्व' की भावना प्राणियों के समस्त रोगों का इलाज है। वे रोग तीन कोटियों में विभक्त किये गये हैं। एक का नाम है विचिकित्सा, दूसरे का मोह, तीसरे का शोक।

विचिकित्सा या सन्देह प्राणी के लिए बड़ा दुःखदायी है। उस को किंकर्त्तव्य विमूढ़ बना देता है। गीता में कहा है—

संशयात्मा विनश्यति।

अर्थात् सन्देहवाले का नाश हो जाता है। क्यों? इसलिए कि सन्देह-कार्य तत्परता का बाधक है। बटोही को जंगल में यात्रा करते हुए यदि दो-तीन मार्गों का कोना मिल जाये और यह पता न चले कि कौन से मार्ग का अवलम्बन करना चाहिए तो उस को कितना कष्ट होगा? वह वहीं ठहर जाता है और सोचने लगता है कि किधर जाऊँ यहाँ तो कई रास्ते हैं? संसार में मनुष्य के लिए यही आपत्ति होती है। पशु-पक्षी इस विषय में अच्छे हैं। उनके सामने केवल एक मार्ग ही है। कई नहीं। उनको निर्वचन नहीं करना पड़ता। नैसर्गिक प्रेरणा ही उनके लिए काफी होती है। शायद पशु किसी काम में विफल होकर कभी पछताते भी नहीं। उनको अपने पूर्वजों के इतिहास या चरित्रों को पढ़कर अपना भविष्य-निर्माण करने की आवश्यकता नहीं पड़ती, परन्तु मनुष्य के सामने प्रतिक्षण यह प्रश्न खड़ा रहता है कि कर्त्तव्य क्या है? अकर्त्तव्य क्या है? कौन सा मार्ग त्याज्य है? कौन सा उपादेय?

यह सन्देह मनुष्य को क्यों होता है और पशु को क्यों नहीं? इसलिए कि पशु का काम निषेधात्मक है और मनुष्य का विधेयात्मक। पशुयोनि को भोगयोनि कहा है और मनुष्य को कर्म और भोगयोनि। **पशुयोनियाँ मुख्यतया उन संस्कारों को दूर करने के लिए हैं जो जीव की उत्क्रान्ति में बाधक होते हैं और मनुष्य-योनि पथ पर आगे कदम बढ़ाने के लिए हैं।** अपना भाव एक उदाहरण से व्यक्त करूँ। कल्पना कीजिए कि एक ऐसा यात्री है जो रोगी है और उसके पैर में काँटे लगे हुए हैं। वह यात्रा नहीं कर सकता। उसके लिए आवश्यक है कि पैर के काँटे निकल जायें, रोग दूर हो जाय। फिर वह आगे बढ़ सके। स्वस्थ होकर उसके सम्मुख दो मार्ग होंगे। एक यह

कि वह आगे बढ़े और दूसरा यह कि वह न बढ़े और वहीं बैठा रहे, परन्तु पहले तो उसके सम्मुख दो मार्ग भी न थे। वह आगे बढ़ ही नहीं सकता था उस का शरीर पीड़ित था अब उस को निर्वचन करने का अवसर है। यह उदाहरण मोटा सा है और प्रत्येक छोटे अंश में नहीं घटता, परन्तु भाव समझने के लिए उपयुक्त है। मनुष्य की मनुष्यता इसी में है कि उसे निर्वचन करने का अवसर मिले जिससे वह अपनी बुद्धिमत्ता और कर्त्तव्यपरायणता का परिचय दे सके। यदि एक ही मार्ग होता तो उसकी बुद्धि के विकास के लिए अवसर न मिलता। **एक ही मार्ग हो और वह भी निश्चित तो उस पर अन्धे भी लाठी टेक कर चल सकते हैं।** पशु यही करते हैं। वे विचिकित्सा से मुक्त हैं। उन्हें कभी सोचने की आवश्यकता नहीं पड़ती और इसीलिए उनमें योग्यता भी नहीं। जो कुछ है भी, वह नहीं के बराबर।

कोई रोग निष्प्रयोजन नहीं—विचिकित्सा मनुष्य के लिए निरुपयोगी वस्तु नहीं है। कोई रोग भी निरुपयोगी नहीं, परन्तु रोग का उपयोग यही है कि उस को दूर करने का उद्योग किया जाये। इसी प्रकार विचिकित्सा ज्ञान की अभिवृद्धि के लिए प्रेरक है। गौतम ने न्यायदर्शन में कहा है कि संशय क्या तत्त्व है इस का ज्ञान होना चाहिए तभी मुक्ति हो सकती है। वस्तुतः संशय किन-किन अवस्थाओं में होता है इस का परिज्ञान प्रत्येक मनुष्य को होना चाहिए।

प्रेम मोह नहीं और मोह प्रेम नहीं—दूसरा रोग है मोह। मोह अज्ञान का एक विशेष रूप है। कुछ लोग इस को प्रेम का समानार्थक समझते हैं, परन्तु प्रेम में और मोह में आकाश-पाताल का भेद है। प्रेम मोह नहीं और मोह प्रेम नहीं। ज्ञानवती माता प्रेम करती है मोह नहीं करती। ज्ञान-शून्य माता मोह करती है प्रेम नहीं। प्रेम अपनी और दूसरे की प्रकृति को समझकर होता है। जबकि मोह अपनी और दूसरे की प्रकृति को न समझकर होता है। **कवियों ने संसार में जितनी प्रेम की मिट्टी-पलीद की है उतनी और किसी की नहीं।** जो मूढ़ और मोही हैं उस को प्रेमी का नाम दिया है। मोही अपने को भूल जाता है वह नहीं समझता कि मैं कौन हूँ और जिस से मैं प्रेम करना चाहता हूँ उस के साथ मेरा क्या सम्बन्ध है। प्रेम में ज्ञान होता है। परार्थ होता है। स्वार्थ-शून्य होता है। **मोह एक नशा है जिसके प्रभाव में मनुष्य का**

मस्तिष्क काम नहीं करता।*

तीसरा रोग शोक है। ज्ञान, प्रकाश और आह्लाद का सम्बन्ध है। अज्ञान, अन्धकार और शोक परस्पर सहयोगी हैं। शोक क्यों होता है? मनुष्य किसी कल्पित पदार्थ की ओर दौड़ता है। उसकी प्राप्ति उस को दुर्लभ हो जाती है तो उसे शोक होता है।

इन तीनों रोगों का एक इलाज है, अर्थात् हम इस सृष्टि में अपने स्थान को समझें। इन दोनों मन्त्रों में बताया गया है कि "जो मनुष्य परमात्मा में सब भूतों को और सब भूतों में परमात्मा को व्यापक जानता है या जो यह जानता है कि समस्त जगत् आत्मा ही है उस को सन्देह, शोक और मोह तीनों रोग नहीं होते।" एकत्व का ज्ञान ही सब रोगों का इलाज है।

यहाँ देखना यह है कि 'एकत्व' क्या है? जिस प्रकार अन्य शब्दों के अर्थ समझने में भूल हो जाती है उसी प्रकार एकत्व के समझने में भी भूल हो गई है जिससे अनेक भ्रान्तियुक्त सिद्धान्त बन गये हैं।'

जगत् मिथ्या कैसे?—कुछ लोग समझते हैं कि जब वेद 'एकत्व' का प्रतिपादन करता है तो ब्रह्म के सिवाय और किसी की सत्ता ही नहीं माननी चाहिए। केवल ब्रह्म ही एक सत्य है और सब कुछ मिथ्या है। जब ब्रह्म ही है। ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं तो जो कुछ नहीं है वही तो मिथ्या ठहरा। जो है ही नहीं उस को मिथ्या क्यों कहा जाता है। जो उद्देश्य ही नहीं उसके साथ विधेय क्यों लगाया जाय? और यदि ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं तो विचिकित्सा किस को, मोह किस को, शोक किस को?

सन्देह किस को?—कहा जा सकता है कि विचिकित्सा, मोह और शोक उसी को होते हैं जो एकत्व को नहीं देखता, परन्तु प्रश्न यह है कि यह एकत्व के न देखनेवाला है कौन? क्या वह ब्रह्म है या उस से इतर कोई अन्य वस्तु। यदि ब्रह्म ही है और अन्य कुछ है ही नहीं तो

---

* कवियों ने तो कामान्ध, लम्पट, विलासी शासकों को भी प्रेमी बनाया व बताया। अब टी०वी० भी ऐसे आवारा लड़के-लड़कियों को आदर्श प्रेमी बताता है। आदर्शहीन वासना सम्बन्धों को प्रेम-विवाह संज्ञा दी जाती है। —'जिज्ञासु'

एकत्व और द्वित्व का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि अन्य है तो ब्रह्म से इतनी अन्य वस्तुओं की भी सिद्धि होती है और उन का न मानना अज्ञानमात्र होगा। फिर अज्ञान को शोक मोह आदि की निवृत्ति का कारण मानना पड़ेगा!

सब भूतों की सत्ता—उपनिषद् यह तो कहती नहीं कि ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई वस्तु है ही नहीं। वह तो **'सर्वाणि भूतानि', अर्थात् सब भूतों की सत्ता स्वीकार करती है**। उपनिषत् तो ब्रह्म और सब भूतों में व्यापक-व्याप्य भाव का प्रतिपादन करती है। इसलिए सातवें मन्त्र में आये हुए 'एकत्व' शब्द का अर्थ करने में छठे मन्त्र में आये हुए सप्तम्यन्त पदों के अर्थों को भुलाना नहीं चाहिए। कठोपनिषत् में लिखा है—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥

(कठोपनिषत् अध्याय २। बल्ली ५। मं० ९)

जिस प्रकार अग्नि एक है, परन्तु संसार में प्रविष्ट होकर अनेक रूप का हो जाता है। इसी प्रकार सब भूतों के भीतर व्यापक परमात्मा बाहरी चीजों के रूप का हो जाता है,

यहाँ अग्नि और भुवन में अनन्यत्वभाव नहीं, किन्तु व्यापक-व्याप्यभाव है। इसी प्रकार ब्रह्म और जगत् में भी अनन्यत्व नहीं, किन्तु व्याप्य-व्यापकभाव है।

द्वैत अद्वैत का विवाद—यदि ऐसा ही है तो 'एकत्व' का क्या अर्थ है? इस को उदाहरण से समझिए। एक मशीन (यन्त्र) है। उसके पुरजे भिन्न-भिन्न हैं। कोई दो पुर्जे एक से नहीं, परन्तु पुरजों के अनेकत्व से मशीन में एकत्व है। मशीन के सब पुर्जे मिलकर एक उद्देश्य की पूर्ति करते हैं। कल्पना कीजिए कि आटा पीसने की मशीन है। उसके सब पुर्जे एक से तो नहीं। यदि एक से होते तो मशीन न चलती। उस का कोई पुर्जा गेहूँ को फोड़ता है, कोई बारीक करता है और कोई पुर्जा केवल गेहूँ फोड़नेवाले पुर्जे को अपने स्थान में स्थिर रखता है, कोई पुर्जा केवल गेहूँ फोड़नेवाले पुर्जे की गति को तीव्र करता है। कोई समस्त मशीन को नष्ट-भ्रष्ट होने से बचाता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न होते हुए भी सब पुर्जों में एकता है, सहयोग है, एक-उद्देश्यता है, सब

पुर्जों का काम किसी न किसी रूप में आटे पीसने में सहायता देना है। **जिसने उस मशीन को बनाया है उसकी बुद्धि मशीनभर में व्यापक है।** उसने आरम्भ से लेकर अन्त तक केवल एक बात का विचार रक्खा था, अर्थात् आटा पीसना। इस का नाम है '**एकत्व**'।* यह '**अनन्यत्व**' न होता हुआ भी 'एकत्व' है और इसी प्रकार के 'एकत्व' से आप उन उलझनों से मुक्त हो सकते हैं जो नित्य द्वैत और अद्वैत माननेवालों के बीच में खींचातानी करने से होती रहती है। इस में द्वैत को मिथ्या और अनन्यत्व को सत्य मानने की आवश्यकता नहीं। इससे तो द्वैत और एकत्व दोनों साथ ही सिद्ध हो जाते हैं।

अब प्रश्न यह है कि "सर्वाणि भूतानि आत्मा एव अभूत्" का क्या अर्थ है? 'अभूत्' शब्द के अर्थों पर विचार कीजिए। 'भू' धातु का यह लुङ्लकार है। इस का अर्थ यह है कि जब प्रभु ने समस्त जगत् बनाया और इस प्रकार बनाया कि इस का प्रत्येक अंग उस महान् ब्रह्माण्ड का उसी प्रकार पुरजा कहा जाये जैसे कल के पुर्जे होते हैं तो सृष्टि-कर्तृत्व के उद्देश्य और उन सब भूतों के उद्देश्य एक होने के कारण वे सब भूत आत्मा ही तो हो गये। उन में इतरत्व शेष नहीं रहा। लोक विशाल है उस में अन्यान्य प्रकार के कार्य होते हैं, परन्तु वह सब है क्या? उसी बुद्धिमान् पुरुष की बुद्धि का चमत्कार! सब कारखाने के प्रत्येक कार्य में उसकी बुद्धि ओत-प्रोत है, जिस प्रकार एक माला के पचासों दाने अलग-अलग होने पर भी एक सूत्र में पिरोये रहते हैं और इसीलिए उस को माला कहते हैं। इसी प्रकार आत्मा सब भूतों के भीतर ओत-प्रोत होकर उनको पिरोए हुए है। यही आत्मा है। यही सूत्रात्मा है। यही सूत्र है जिसमें सब वस्तुएँ गुथी हुई हैं। इसी को तो माण्डूक्य-उपनिषत् में कहा है—**सर्वं तस्योपव्याख्यानम्।**

यह सब जगत् उसी का उपव्याख्यान है, क्योंकि वह हर एक वस्तु में व्यापक हो रहा है। उसके समझने से सब जगत् समझ में आ सकता है। अथर्ववेद में इसी आशय का और अच्छा वर्णन किया है—

---

१. द्वैत, अद्वैत व त्रैतवाद को मशीन का उदाहरण देकर इतनी सरलता से समझना उपाध्याय जी की लेखनी व सूझ का एक चमत्कार है।
—'जिज्ञासु'

यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्यात् ब्राह्मणं महत्॥

(अथर्ववेद १०।८।३७)

जो उस सूत्र को जानता है जिसमें सृष्टि के समस्त पदार्थ ओत-प्रोत हैं। जो इस सूत्र के भी सूत्र को जानता है वह बड़े ब्रह्म को पहचानता है।

घड़ी का समझना घड़ीसाज की बुद्धि को समझना है, क्योंकि घड़ी के प्रत्येक अंग में घड़ीसाज की बुद्धि ओत-प्रोत है। वह एक है इसीलिए घड़ी भी एक है। जिसने घड़ी को एकत्व प्रदान किया है वह घड़ीसाज का 'एकत्व' ही है।

यदि यह एकत्व समझ में आजाय तो फिर विचिकित्सा, मोह और शोक के लिए कौन सा स्थान शेष रहता है? घड़ी की चाल में पुर्जों की चाल है, अलग नहीं। इसलिए घड़ी का उद्देश्य पूरा होते हुए हर एक पुर्जा अपने को कृतकार्य समझता है। उसकी अपनी अलग कोई कार्य-सिद्धि नहीं जिस पर वह शोक, सन्देह या मोह प्रकट करे। जिसने इस समष्टि के एकत्व* को समझ लिया उस को न अपनी मृत्यु का शोक दे सकती है न अपने किसी सम्बन्धी की, न अपनी हानि शोक दे सकती है न अपने सम्बन्धी की हानि। इस एकत्व को जानना कठिन है, परन्तु शोक-विगत होने का यही एकमात्र उपाय है।

❑❑

---

* सृष्टि में असंख्य जीवों, प्रकृति व परमात्मा की सत्ता सिद्ध है। जगत् में विविधता है। रंग भेद, भाषा भेद, आकृति व वेशभूषा का भेद, फूलों, फलों, पेड़ों व मिट्टी के रंग व उपज में भी भेद फिर इसे Universe क्यों कहा जाता है? Uni का का अर्थ तो एक है। यहाँ सर्वत्र विविधता है इस पहेली का उत्तर वेद का यह मन्त्र देता है। 'एकत्व' शब्द इसका समाधान करता है। —'जिज्ञासु'

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

(१) सः=वह

(२) परि अगात्=सब को चारों ओर से घेरे हुए है।

(३) शुक्रं*=(व्या०—शुच्+रक् नि० कुत्वम्), शुद्ध, निर्मल

(४) अकायम्=(व्या०—चि० घञ् आदेः ककारः। चीयते अस्मिन् अस्थ्यादिकमिति कायः। नास्ति कायो यस्य स अकायः) कायारहित, शरीररहित।

(५) अव्रणम्=घावरहित

(६) अस्नाविरम्=स्नायु या नस-नाड़ीरहित

(७) शुद्धम्=पवित्र

(८) अपापविद्धम्=जो पाप से बिंधा न हो, जिस पर पाप का आघात न हो सकता हो।

(९) कविः=ज्ञानवान् (१०) मनीषी=बुद्धिमान्

(११) परिभूः=सब के सब ओर स्थित

(१२) स्वयम्भूः=अपनी सत्ता में स्वयं स्थित

(१३) याथातथ्यतः=यथा तथा, अर्थात् जैसा चाहिए वैसा।

(१४) अर्थान्=पदार्थान्=पदार्थों को

(१५) व्यदधात्=विहित किया या नियुक्त किया

(१६) शाश्वतीभ्यः समाभ्यः=नित्य जीवों के लिए।

(१७) अन्वयार्थ=वह ईश्वर व्यापक, शुद्ध, शरीर आदि से रहित या नसरहित, पाप के प्रभाव से दूर, कवि, मनीषी, परिभू और स्वयम्भू

---

* उपाध्यायजी ने शुक्र का एक अर्थ बीज शक्ति (Potentiality) भी दिया है। इसी मन्त्र की व्याख्या में वे कई बार यह अर्थ भी देते रहे।—'जिज्ञासु'

है। उसने जैसा चाहिए वैसा "नित्य जीवों" के लिए पदार्थों को नियुक्त किया है।

उपमा से एक भ्रम—पिछले मन्त्रों में 'आत्मा' शब्द का प्रयोग हुआ है। आत्मा प्रायः दो अर्थों में आता है एक जीवात्मा के लिए और दूसरे परमात्मा के लिए। जिस प्रकार शरीर जीवात्मा की प्रेरणा से काम करता है उसी प्रकार संसार ईश्वर की प्रेरणा से काम करता है। जैसे जीव शक्तिरूपेण शरीर में ओत-प्रोत है इसी प्रकार ईश्वर जगत् में ओत-प्रोत है। जीव के शरीर में जो क्रिया हो रही हैं उस को साधारण मनुष्य भी अनुभव करता है। वह प्रत्यक्ष है। ईश्वर परोक्ष है। इसलिए जब ईश्वर और जगत् के विषय में जीव और शरीर की उपमा दी जाती है तब बहुधा इसके समझने में भ्रम हो जाता है। पिछले मन्त्रों में बताया गया है कि ब्रह्म समस्त भूतों में विद्यमान है और सब भूत ब्रह्म में। यहाँ एक भ्रम हो सकता है। वह यह कि जिस प्रकार शरीर में ओत-प्रोत होने के कारण जीव पर शरीर की भौतिक क्रियाओं का प्रभाव पड़ता है उसी प्रकार क्या जड़ जगत् का प्रभाव ब्रह्म पर भी पड़ता है ? संसार के विषय जीव को शरीर द्वारा ही तो वश में करते हैं। यदि आँख न होती तो जीव बाह्य रूपों के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर अपने कर्त्तव्य से च्युत न होता। सर्प मधुर-ध्वनि की आसक्ति के कारण ही दूसरों के बन्धन में आ फंसता है। जहाँ जीव शरीर से अपने लाभ के लिए काम लेता है वहाँ शरीर के कारण ही अपना अहित भी कर बैठता है। यह बात उसके शरीर में आने के कारण ही होती है। यदि ईश्वर की सृष्टि में व्याप्ति भी ईश्वर के लिए इन्हीं सब बाधाओं का कारण बन जाय तो ईश्वर की ईश्वरता में विकार आ जाता है और वह भी सब सुख-दुःखरूपी द्वन्द्वों के बन्धन से बच नहीं सकता। भिन्न-भिन्न धार्मिक सम्प्रदायों ने इसी भ्रम में पड़कर ईश्वर के विषय में उन सब भौतिक भोगों की कल्पना की है जो जीव के विषय में नित्य उनके दृष्टिगोचर होते रहते हैं। यह उपमाओं के उपमात्व को न समझने के कारण है। यदि कभी उन्होंने देखा कि सूर्य और चन्द्र इस सृष्टि की आँखें हैं तो उन्होंने यह भी कल्पना कर ली कि ईश्वर इन्हीं आँखों से उसी प्रकार दूसरी वस्तुओं को देखता है जैसे जीव अपनी आँखों से देखा करता है। उनको यह सूझ नहीं हुई कि यह एक उपमामात्र है।

जैसे हमारे शरीर में आँखें प्रकाशमय हैं इसी प्रकार ब्रह्माण्ड में सूर्य और चन्द्र हैं।

एक शंका का समाधान—यदि यह मान लिया जाय कि जीव और शरीर का जैसा परस्पर सम्बन्ध है और जैसे ये दोनों एक-दूसरे पर प्रतिक्रिया करते रहते हैं उसी प्रकार ब्रह्माण्ड और ब्रह्म की भी प्रतिक्रियाएँ हुआ करती हैं तो ब्रह्म कोई ऐसी चीज सिद्ध नहीं होता जिसकी प्राप्ति से विचिकित्सा, मोह और शोक का निवारण हो सके। जो डॉक्टर स्वयं रोगी है वह दूसरे के रोग को क्या दूर करेगा। जो आचार्य विषयी हैं उनके सम्पर्क में आकर शिष्य विषयों से बचने में कृतकार्य नहीं हो सकते।

ब्रह्म निर्लेप है—पिछले मन्त्रों में बताया गया है कि ईश्वर भूतों में विद्यमान है। इसलिए इस रहस्य को समझना जीव के शोक और मोह की निवृत्ति का कारण होगा। इस मन्त्र में उस भ्रम को दूर किया गया है जिसकी उपमा के कारण लोगों में फैलने की आशङ्का और सम्भावना हो सकती है, अर्थात् यद्यपि जीव शरीर में आकर शरीर के मलों से निर्लेप नहीं रह सकता, **परन्तु ब्रह्म जगत् में व्यापक होकर भी निर्लेप रहता है।**

वस्तुतः शरीर और जीवन का जो परस्पर सम्बध है वह पूरी तौर से ब्रह्म और ब्रह्माण्ड में नहीं घटता। शरीर के लक्षण न्यायदर्शन में यह किये गये हैं—

चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयं शरीरम्।

अर्थात् शरीर हमारी चेष्टाओं और इन्द्रियों के अपने अर्थों के साथ सम्पर्क करने में आश्रय है।

जीव शरीरी है और देह शरीर है। जीव अपने समस्त भौतिक ज्ञान के लिए इन्द्रियों के आश्रित है। **यदि इन्द्रियों में विकार आ जाय तो जीव का व्यापार बन्द हो जाता है। अन्धा देख नहीं सकता। बहरा सुन नहीं सकता।** यदि इसी प्रकार का ब्रह्म और ब्रह्माण्ड का भी सम्बन्ध होता तो ब्रह्माण्ड उसी अर्थ में ईश्वर का शरीर होता तो ब्रह्माण्ड के किसी स्थान को क्षति पहुँचने पर ब्रह्म में भी क्षति की आशङ्का होती। इसी आशङ्का को दूर करना इस मन्त्र का उद्देश्य है।

विद्युत् जल में नहीं भीगती—ईश्वर परि+अगात्—**समस्त संसार**

में ओत-प्रोत होता हुआ भी शुक्र, अर्थात् निर्मल है। मलयुक्त संसार में व्यापक और फिर भी निर्मल! यह कैसी बात? **अज्ञानी या मिथ्याज्ञानी जीवों के भीतर व्यापक और फिर भी ज्ञानी।** दुर्गन्धयुक्त स्थानों का वायु भी दुर्गन्धयुक्त हो जाता है। यह क्या बात है कि व्याप्य का व्यापक पर प्रभाव नहीं पड़ता? यह बात लोगों की समझ में नहीं आती और आये भी कैसे? संसार के मोटे दृष्टान्त तो इसके विरोध में ही मिलते हैं। जो सूक्ष्म दृष्टान्त हैं उन तक लोगों की गति कठिनता से होती है। मनुष्य सुगमप्रिय है। गहरा जाना नहीं चाहता है। पानी के ऊपर तैरना सुगम है, डुबकी लगाकर गहराई की थाह लेना कठिन है। यह एक ऐसा भ्रम है जिस में मनुष्य-समाज का बहुत बड़ा भाग फंसा हुआ है। अफ्रीका की जंगली जातियों में यह प्रसिद्ध है कि जब बिजली गिरकर किसी पशु को मार डालती है तब वे समझते हैं कि ईश्वर को भूख लगी है उसने अपने लिए एक पशु मारा है। उनकी बुद्धि दो कदम आगे नहीं चलती। **वे यह नहीं सोचते कि ईश्वर को बिजली गिराकर यदि अपनी भूख की निवृत्ति करनी होती तो वह मृतपशु की जली हुई लाश को क्यों छोड़ देता?** मनुष्य प्रायः लंगड़ी युक्तियों से ही सन्तोष कर लेता है। ईश्वर जब जगत् में व्यापक है तो जगत् उस का शरीर हुआ। ठीक! **तो ईश्वर** साकार हो गया तो फिर उसके लिए भोजन, छादन, स्त्री, और लड़का चाहिए। यदि वह राजा है तो उसके लिए दरबार की कल्पना करो, उसके सचिव हों, सेना हो, सेनापति हों, उसके सन्तोष के लिए चारण नियुक्त हों, जो रात-दिन उसकी प्रशंसा किया करें। उत्तम भोजन हों, इत्यादि, इत्यादि। इसी को अंग्रेजी में एंथ्रोपोमोर्फिज्म (Anthropomorphism) कहा है, अर्थात् ईश्वर के विषय में मनुष्य की समस्त क्रियाओं की आवश्यकताओं की कल्पना करना। जो लोग कहते हैं कि ईश्वर नरलीला किया करता है वे इसी भ्रम में पड़कर कहते हैं। बजाय इसके कि वे नरों को ईश्वरलीला (ईश्वर का अनुकरण) करने के लिए प्रेरित करें वे ईश्वर में नरलीला की कल्पना करते हैं,* इसलिए ईश्वर भक्तों में वे त्रुटियाँ पाई जाती हैं

* बाइबिल करं आयत God created man in his own image. प्रभु ने मनुष्य को अपने रूप पर बनाया भी प्रकारान्तर से इस कथन की पुष्टि करती है। वास्तव में Man made god in his own image. सब अवैदिक मतों की देव-गाथाएँ पढ़कर देखलें। —'जिज्ञासु'

जिनकी नास्तिक लोग खिल्ली उड़ाया करते हैं। वेद-मन्त्र कहता है कि ईश्वर एक अद्भुत सत्ता है। **जिस प्रकार जल में व्यापक होकर विद्युत् शक्ति भीगती नहीं और न दुर्गन्धयुक्त पदार्थों में व्यापक होकर वह दुर्गन्धयुक्त होती है, इसी प्रकार परमात्मा व्यापक रहते हुए भी व्याप्य गुणों से अलग रहता है।** जगत् में ईश्वर व्यापक है, परन्तु वह उसी अर्थ में शरीरी नहीं, वह अकाय है।* अव्रण है, अस्नाविर है। मेरे शरीर में यदि किसी स्थान पर सुई चुभो दी जाय तो मुझे पीड़ा होगी, परन्तु यदि पृथ्वी को फावड़े से खोदने लगें तो ईश्वर को पीड़ा नहीं होती। यदि मेरी आँख के कारण मेरे मन में कोई बुरे भाव उत्पन्न हो जाएँ तो मुझ में विकार हो जाता है। मेरी शुद्धता नष्ट हो जाती है। मैं पापों से बिंध जाता हूँ, परन्तु ईश्वर शुद्ध, अपापविद्ध है। **पापी मनुष्यों के पापी हृदयों के भीतर व्यापक होता हुआ भी उसी प्रकार शुद्ध और पाप-शून्य रहता है जैसे सूर्य की किरणें मल-मूत्र पर पड़कर मलयुक्त नहीं होतीं।** ईश्वर में यह विचित्र गुण क्यों है ? प्रथम तो इसमें कोई विचित्रता नहीं, क्योंकि भौतिक उदाहरण इस प्रकार के मिलते हैं। जैसे विद्युत् या सूर्य-रश्मियाँ। विचित्रता केवल स्थूलदर्शियों के लिए है सूक्ष्मदर्शियों के लिए नहीं। हाँ, एक बात है। जीवों से ईश्वर अवश्य विचित्र है। जीव अल्प है, ईश्वर पूर्ण है। वह कवि और मनीषी है अर्थात् उस का ज्ञान किसी समय भी तिरोभूत नहीं होता। वह कभी किसी अवस्था में भी भ्रम में नहीं पड़ सकता। अविद्या (जिस को कुछ लोग भ्रमवश ही माया कहते हैं।) उस पर प्रभाव नहीं डाला करती। अविद्या के विषय में वैशेषिकदर्शन कहता है कि—

इन्द्रियदोषात् संस्कारदोषाच्चाविद्या।

अविद्या के दो कारण—अविद्या दो कारणों से होती है एक इन्द्रियों में दोष आने के कारण दूसरी संस्कारदोष के कारण। ईश्वर को न तो इन्द्रियों की अपेक्षा है न संस्कारों की। फिर उसमें अविद्या के लिए स्थान कहाँ? वह तो परिभू और स्वयम्भू है, अर्थात् उसकी समस्त क्रियाएँ स्वयं बिना किसी अन्य की सहायता के हुआ करती

* सगुण भी एक गुण है और निर्गुण भी एक गुण है, परन्तु गुण का अर्थ आकार नहीं है। सगुण का अर्थ साकार करना भयंकर भूल है।
—'जिज्ञासु'

हैं। फिर उसमें विकार क्यों होने लगा। मैं कलम से लिख रहा हूँ। विना कलम के लिखना मेरे लिए कठिन है, इसीलिए कलम के टूटते ही मेरा लेखन भी बन्द हो जाता है या बिगड़ने लगता है, परन्तु यदि मैं कलम के आश्रित न होता तो कलम की त्रुटि मेरे ऊपर कैसे प्रभाव डालती? **ईश्वर को तो उपकरणों की आवश्यकता ही नहीं।** वेदान्तदर्शन के निम्न सूत्रों में इसी का विवेचन किया है—

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः। (२।२।४०)

न च कर्तुं करणम्। (२।२।४३)

इसी निर्लेप, निर्विकार, सदा ज्ञानी, निरन्तर अज्ञानरहित ब्रह्म के गुणों को समझनेवाला जीव सन्देह, मोह और शोक से मुक्त हो सकता है।

सृष्टि रची ही क्यों?—यहाँ प्रश्न होता है कि ईश्वर को जब कोई भोग भोगना नहीं तो वह जगज्जाल में क्यों फंसता है? वह सृष्टि को बनाता ही क्यों है? इस का उत्तर मन्त्र के अन्तिम भाग में दिया है। अर्थात्

याथातथ्यतः अर्थान् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः व्यदधात्।

यहाँ "समाभ्यः" (समाओं के लिए) पद में 'समा' का अर्थ है जीव। ईश्वर के समान जीव ही हैं। प्रकृति जड़ है। जीव चेतन हैं। इस समानता के कारण ही जीव को 'समा' कहा गया। विषमता प्रकृति में है और प्राकृतिक विषमता के कारण ही जीवों में विषमता उत्पन्न सी हो जाती है। **यदि जीव अपने को प्राकृतिक विषमता से मुक्त रख सकते तो उनमें भी विषमता उत्पन्न न होती। इस विषमता के कारण ही जीव की आवश्यकताएँ भिन्न-भिन्न हो जाती हैं।** कोई भोजनप्रिय है कोई वस्त्रप्रिय। कोई यशःप्रिय। कोई कुछ चाहता है और कोई कुछ। भिन्न-भिन्न जीवों की प्रवृत्तियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं और उसके अनुसार उनके संस्कार भी भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। इनको सम्यक् रीत्या केवल ईश्वर ही समझ सकता है और वह यह "याथातथ्यतः" अर्थात् ठीक जैसा चाहिए वैसा, "अर्थान्" अर्थात् पदार्थों को 'शाश्वतीभ्यः समाभ्यः', अर्थात् नित्य रहनेवाले **जीवों के लिए नियुक्त करता है** (व्यदधात्)। ईश्वर ने सृष्टि अपने लिए नहीं बनाई; वह जीवों के

लिए सृष्टि बनाता है।* वह निःस्वार्थ भाव से काम करता है और उसी का अनुकरण करता हुआ जीव भी निष्कामभाव को धारण करता है।

कुछ वैज्ञानिक इस वाक्य को सुनकर हँसते हैं। उनको सृष्टि की विशालता और मनुष्यों की अल्पसंख्यता में कोई ऐसी संगति नहीं मिलती कि वह सृष्टि की रचना मनुष्यों के लिए मान सकें। वर्तमान युग के प्रसिद्ध वैज्ञानिक तथा दार्शनिक सर जेम्स जीन्स (Sir James Jeans) कहते हैं—

Life can only exist inside a narrow temperate zone which surrounds each of these fires at a very definite distance. Outside these zones life would be forzen; inside, it would be shrivelled up. At a rough computation. these zones within which life is possible, all added together, constitute less than a thousand million millionth part of the whole of space. And even inside them, life must be of very rare occurrence, for it is so unusual an accident for suns to throw off planets as our out sun has done, that probably about only one star in 100,000, has a planet revolving round it in the small zone in which life is possible.

For this reason it seems incredible that universe can have been designed primarily to produce life like our own; had it been so, surely we might have expected to find a better proportion between the magnitude of the mechanism and the amount of the product. At first glance at least, life seems to be an utterly unimportant byproduct. We living beings are some how off the main line. (The Mysterious Universe the Dying Sun by Sir James Jeans).

भावानुवाद—"प्राणी इन लोकों के केवल उन तंग भागों में रह सकता है जिनका ताप सामान्य है, अर्थात् जहाँ न जाड़ा अधिक है न गर्मी अधिक। यह भाग बहुत थोड़ा है। इन भागों के बाहरी शीत के आधिक्य के कारण शरीर ठिठुर जाएँ और इनके भीतर सिकुड़ जाएँ। यदि साधारण हिसाब लगाया जाय तो वह भाग जिन में जीवन शक्य है समस्त प्रदेश का अर्ब खरबवाँ भाग भी तो नहीं और इन भागों में

---

* वैदिक धर्म व दर्शन की यह एक मौलिक देन है कि प्रभु ने सृष्टि अपने लिए नहीं रची। वह तो पूर्ण है। उसने अपनी भक्ति करवाने के लिए भी जग नहीं रचा। —'जिज्ञासु'

जीवन के चिह्न अल्प ही मिलते हैं। सूर्यमण्डलों में से हमारी जैसी पृथ्वी का उछलकर अलग लोक बन जाना भी बहुत कम होता है। प्रतिलक्ष एक सूर्य मण्डल ऐसा होगा जिसके चारों और ऐसा उपग्रह घूमता हो जिसमें जीवन शक्य हो।

इसलिए यह विश्वास करना कठिन है कि सृष्टि हमारी जैसी जीवन-यात्रा के उपयोग के लिए बनाई गई है। यदि ऐसा होता तो आवश्यकता और उसके साधनों में उचित अनुपात होना चाहिये था।

ऊपरी दृष्टि से तो यही प्रतीत होता कि सृष्टि में जीवन एक सर्वथा गौण पदार्थ है और जीवधारी पदार्थ अपने मुख्य स्थान से सर्वथा बहके हुए हैं।''

एक विचित्र शंका—जीन्स महोदय का आशय यह है कि यदि यह समस्त सृष्टि जीवों के लिए होती तो जीवधारियों का आधिक्य होता। जीवधारी तो सृष्टि के एक छोटे से कोने में पड़े हुए हैं। इस का अरबों-खरबों गुना भाग खाली पड़ा है। इसलिए या तो यह कहो कि सृष्टि जीवों के लिए नहीं बनी या यह मानो कि सृष्टि बनानेवाली शक्ति न कवि है न मनीषी। यदि किसी को दस गायें पालनी हों तो वह दो लाख बीघे में गोशाला नहीं बनायेगा। जिस को दस विद्यार्थी पढ़ाने हों वह दो करोड़ मील लम्बी चौड़ी पाठशाला क्यों बनावे।

अनन्त जीवों की अनन्त आवश्यकताएँ—परन्तु जिस महोदय ने इतनी शंका उठाकर स्वयम् इस को ऊपरी (at first glance) कहा है। है भी ऊपरी दृष्टि—जीवन का पता ही वैज्ञानिकों को अब चला है। वैज्ञानिकों की समस्त शक्तियाँ गत कुछ वर्षों तक केवल भौतिकी और रसायन (Physics and Chemistry) तक ही सीमित रहीं। पाश्चात्य जीवन शास्त्र (Physiology, Biology आदि-आदि) की आयु तो अभी बहुत थोड़ी है। **इन्होंने सृष्टि की विशालता का पता तो लगा लिया, परन्तु जीवन की विशालता का पता इनको अभी नहीं लगा। अनन्त जीवों की अनन्त आवश्यकताओं पर विचार दौड़ाने से विशाल सृष्टि की उपयोगिता समझ में आ सकती है।*** यदि हम अपनी

* सृष्टि विशाल होते हुए भी जीवों के लिए तंग-तंग दीख रही है। मनुष्य ईश्वरीय व्यवस्था को समझने का यत्न ही नहीं करता। इस कारण दु:ख व्याप्त है। —'जिज्ञासु'

बुद्धि को अल्प और सीमित स्वीकार कर लें तो हमारे लिए क्या अधिक स्वाभाविक है? या तो सृष्टि को अनुपयोगी समझ लें या समझ लें कि सृष्टि है तो उपयोगी, परन्तु उपयोग पूरा-पूरा हमारी समझ में नहीं आता।

अरब के एक बद्दुओं के ग्राम में एक यूरोपियन ठहरा। उस को भ्रमण करने की आदत थी। गाँववाले उस को टहलता हुआ देखकर बड़े चकित हुए। वे कहने लगे—"क्या यह पागल है कि बिना प्रयोजन के इधर से उधर घूम रहा है?" उनकी समझ में नहीं आया कि भ्रमण का भी कोई उपयोग हो सकता है। क्या हमारा भी तो यही हाल नहीं? प्रत्येक विचार के लिए पहले एक धारणा चाहिए। सृष्टि पर विचार करने के लिए दो धारणाएँ हो सकती हैं। एक यह कि सृष्टि का उपयोग है, प्रयोजन है। इस प्रयोजन की खोज करनी चाहिए। दूसरी धारणा यह है कि सृष्टि का कोई प्रयोजन नहीं। यह अकस्मात् निष्प्रयोजन ही हो गई है। इन दोनों में से कौन सी धारणा वैज्ञानिक है? यह वैज्ञानिक लोग स्वयं ही निर्धारित कर लें।

कुछ पण्डितम्मन्य लोग जो ईश्वर पर साकारता आरोपित करने के शौकीन हैं, यह शंका करते हैं कि जब वेदमन्त्र में ईश्वर को "अकाय" कहा तो 'अव्रण' और "अस्नाविरम्" कहने की क्या आवश्यकता थी? यह आक्षेप करके वे मन्त्रकर्त्ता पर पुनरुक्ति दोष तो लगाना नहीं चाहते। इस धृष्टता के लिए वे तैयार नहीं। हाँ, किसी अज्ञेय और अमीमांसनीय युक्ति द्वारा यह कहते हुए सुने जाते हैं कि जब 'अव्रण' और 'अस्नाविर' कहा तो ईश्वर अवश्य साकार है। यह कथन इतना निस्सार है कि समीक्षा की आवश्यकता नहीं रखता*, तथापि हम उन के सन्तोष के लिए महीधर और उव्वट के यजुर्वेद भाष्य का प्रासंगिक उद्धरण यहाँ देते हैं—

---

* पं० सुधाकरजी ने Grace and glory of Vedic Dharma पुस्तक में इस मन्त्र पर लिखा है—"This mantra needs no explanation. This is the only rational and scientific concept of God." अर्थात् इस मन्त्र की और व्याख्या की तो आवश्यकता ही नहीं। ईश्वर के स्वरूप व सत्ता की यही एकमेव तर्क संगत व वैज्ञानिक मान्यता है। —'जिज्ञासु'

अकायमव्रणमस्नाविरमिति पुनरुक्तान्यभ्यासे भूयांसमर्थम-त्यन्त इत्यदोषः। (उव्वटः)

अकायमव्रणमस्नाविरमिति पुनरुक्तिरर्थातिशयद्योतनाय। अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते। (निरु० १०।४२) **इति यास्कोक्तेः।**

(महीधरः)

नोट—कुछ लोगों ने 'समाभ्यः' का अर्थ संवत्सर किया है। इस अर्थ से संगति नहीं मिलती, और अनोखी कल्पनाएँ करनी पड़ती हैं।

❑❑

९, १०, ११

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याꣳ रताः ॥ ९ ॥
अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे ॥ १० ॥
सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद् वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥ ११ ॥

(१) ये=जो
(२) असम्भूतिम्=नाश या मृत्यु की
(३) उपासते=उपासना करते हैं।
(४) अन्धं तमः=अन्धकार को
(५) प्रविशन्ति=प्रवेश करते हैं।
(६) ये उ=और जो
(७) सम्भूत्यां=संसार में
(८) रताः=लिप्त हैं
(९) ते=वे
(१०) ततः भूय इव तमः=उस से भी अधिक अन्धकार को।
(११) सम्भवात्=संसार के ज्ञान से
(१२) अन्यत् एव=और ही फल
(१३) आहुः=बताते हैं।
(१४) असम्भवात्=नाश या मृत्यु के ज्ञान से
(१५) अन्यत्=और ही।
(१६) इति शुश्रुम=हम ने ऐसा सुना है।
(१७) धीराणां=विद्वानों से
(१८) ये=जिन्होंने
(१९) नः=हमारे लिए

(२०) तत्=उसकी

(२१) विचचक्षिरे=व्याख्या की

(२२) यः=जो

(२३) सम्भूतिम्=सृष्टि को

(२४) च विनाशं च=और मृत्यु या नाश को

(२५) तत् उभयं सह=उस को साथ-साथ

(२६) वेद=जानता है।

(२७) विनाशेन=विनाश के ज्ञान से

(२८) मृत्युं=मृत्यु के दुःख को

(२९) तीर्त्वा=तरके

(३०) सम्भूत्या=सृष्टि के ज्ञान से

(३१) अमृतं=अमृत को (३२) अश्नुते=प्राप्त होता है।

पिछले मन्त्र में कहा गया कि ईश्वर ने जीवों के लिए याथातथ्यतः पदार्थ की नियुक्ति की। इसी नियुक्ति का नाम सृष्टि-रचना है। सृष्टि-रचना के विषय में मनुष्यों की दो भावनाएँ हैं, उन्हीं का उल्लेख इन तीन मन्त्रों में है।

यहाँ असम्भूति, असम्भव और विनाश एक अर्थवाची हैं और सम्भूति सम्भव एक अर्थवाची। सम्भूति या सम्भव का उलटा ही असम्भूति या असम्भव है।

सम्भव या सम्भूति शब्द 'भू' धातु में 'सम्' उपसर्ग लगाने से बनते हैं। इस का अर्थ है जन्म या सृष्टि-रचना। इसके विपरीत हुई असम्भूति या असम्भव जिस को विनाश कहते हैं।*

सृष्टि की ऐसी निन्दा!—सृष्टि सादि है और उस का अन्त भी होता है इसीलिए उस को अनित्य या कभी-कभी क्षणभंगुर भी कहते हैं। क्षणभंगुर होने के कारण बहुत से लोगों ने इसकी बड़ी उपेक्षा की है और बहुत-से धर्मों ने तो इस को पानी पी पीकर कोसा है। जो सृष्टि को प्यार करता है उसे संसारी, विषयी, नीच और न जाने क्या-क्या

* पं० श्री इन्द्र जी ने भी असम्भूति का अर्थ विनाश और सम्भूति का अर्थ अविनाश (अनित्य व नित्य) किया है। —'जिज्ञासु'

नाम दिये हैं। कहा जाता है कि ज्ञानी पुरुष को अपना चित्त सर्वथा संसार से हटा लेना चाहिए। क्यों? इसलिए कि मनुष्य के सिर पर मृत्यु सदा नाचती रहती है। जिस प्रकार एक कच्चे धागे में बंधी हुई नङ्गी तलवार किसी के सिर पर लटकती हो उसी प्रकार मनुष्य का हाल है। इसे तो मरना है। मृत्यु कह-सुनकर नहीं आती। दबे पाँव आ जाती है, इसलिए कुछ लोग सदा मौत को ही याद किया करते हैं। **यही लोग असम्भूति के उपासक हैं।** घर क्यों बनावें? सांसारिक सम्पत्ति का क्यों उपार्जन करें? बड़े-बड़े प्रासाद बनाकर क्या होगा?

महल बनाये, बनाये बंगले।
खूब सजाये, रंगाये जंगले॥
कौन चलेगा इन को सङ्ग ले।
अन्त को मर्घट डेरा रे जीवड़े॥

तो क्या करें? जीवन का विचार छोड़ दें और मौत की रट लगावें। मृत्यु देवता की उपासना करें।

एक ईसाई सन्त का कथन—यदि आज हम धार्मिक जगत् की मनोवृत्ति पर विचार करें तो पता चलता है कि इस का उपदेश सदा मृत्यु के लिए ही होता है, जीवन के लिए नहीं। जीवन असार है। यह स्वप्न है। यह पानी के ऊपर का एक बुलबुला है जो वायु के एक ही झोंके से फूट जाता है। इस मनोवृत्ति से सभी धर्म ओत-प्रोत हैं। सेंट आगस्टायन से किसी ने पूछा—"तुम जो विवाह को पाप बताते हो तो संसार का विच्छेद हो जायेगा।" उसने उत्तर दिया—"**अच्छा तो है। पापी कम उत्पन्न होंगे और ईश्वर का नरक कम भरेगा।**"

तो प्रभु ने सृष्टि क्यों रची?—उस से पूछना चाहिए था कि यदि ऐसा ही था तो इस उद्देश्य की पूर्ति तो परमात्मा सृष्टि की रचना न करके भी कर सकता था। न संसार बनाता, न हमारा होना सम्भव होता। न बाँस होता न बाँसुरी बजती। **वस्तुतः इस मनोवृत्ति ने ईश्वर की सुन्दर सृष्टि के सौन्दर्य का आनन्द मनुष्य से छीन लिया।** यह हुई असम्भूति-उपासकों की कहानी।

जो सोचते ही नहीं—अब सम्भूति-उपासकों की कथा सुनिए। ये वे लोग हैं जो सृष्टि को ही सब-कुछ मान बैठे हैं। इन को इस से

आगे सूझता ही नहीं। उन के लिए संसार क्षणिक नहीं, अनित्य नहीं, क्योंकि इससे आगे का उनको अनुभव ही नहीं। संसार में मनुष्य रोज मरते हैं, परन्तु उनको यही आशा है कि शायद मैं कभी न मरूँ। इसलिए वे संसार की प्रत्येक वस्तु में लिप्त हैं। यह नहीं कि उन्होंने युक्ति से प्रमाण-प्रमेय पर विचार करके संसार को नित्य सिद्ध कर लिया हो। इस की तो इन को फुरसत ही नहीं। वे तो नित्य-अनित्य के पचड़े में ही नहीं पड़ते। उन को अपने जीवन के आगे और कोई चीज प्रिय नहीं। संसार का अधिकतर भाग ऐसे ही मनुष्यों का है। वे किसी न किसी धार्मिक सम्प्रदाय से सम्बन्ध तो रखते हैं, कथा भी सुनते हैं, सत्सङ्ग भी करते हैं, परन्तु केवल फैशन के लिए तटस्थ रूप से। उनके व्यापार से कोई ऐसी बात प्रतीत नहीं होती कि वे अपने जीवन को उपयोगी बनायें या अपने समय को मितव्यय से खर्च करें।

उपनिषद् ऐसे दोनों प्रकार के मनुष्यों के विषय में कहती हैं कि असम्भूति, अर्थात् मृत्यु के उपासक अन्धकार में हैं और जो सम्भूति, अर्थात् संसार के उपासक हैं वे तो इस से भी अधिक घोर अन्धकार में हैं।

क्यों ? सुनिए। एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगा। आप अपने एक नौकर को किसी नगर में किसी विशेष कार्य के लिए भेजिए। कल्पना कीजिए कि वह काम दो मास में समाप्त हो जाएगा। आपने उस को तत् कार्य विषयक बातें समझाकर भेज दिया। **केवल दो मास के लिए।** याद रखिये, केवल दो मास के लिए। उसकी मनोवृत्तियाँ तीन प्रकार की हो सकती हैं। (१) पहली वृत्ति यह है कि मुझे तो उस नगर में अधिक रहना नहीं, इसलिए प्लेटफार्म पर ही पड़ा रहूँगा। जहाँ रहना नहीं तो उस नगर से या नगरवालों से सम्बन्ध भी क्यों जोड़ना ? क्यों न पहली ही गाड़ी से चल पड़ूँ ? (२) दूसरी वृत्ति यह है कि नगर तो अच्छा है। आराम करो। देखा जायेगा ! वहाँ के लोगों से मेल-जोल करो। शादी विवाह भी कर लो वहीं बस जाओ यदि स्वामी आने के लिए पत्र भी लिखे तो उसे रद्दी की टोकरी में डाल दो। (३) तीसरी वृत्ति यह है कि यद्यपि इस नगर में मेरा निवास केवल दो मास के लिए ही है तो भी दो मास तो अवश्य रहना है और केवल रहना ही नहीं किन्तु अमुक कार्य के लिए रहना है। इसलिए उन सब साधनों का

सम्पादन करना है जो उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आवश्यक हैं, जिस से नगर में आने की इष्ट-सिद्धि हो ही जाय। कोई यह न कहे कि इस का नगर में आना व्यर्थ हुआ।

यदि आप स्वयं ऐसे नौकर के स्वामी हों और आप से पूछा जाय कि आप इनमें से किस वृत्ति को सब से अधिक प्रिय समझेंगे तो मैं समझता हूँ कि आप का निर्वाचन तीसरी मनोवृत्ति के लिए होगा। शेष दोनों मनोवृत्तियों की आप घोर अवहेलना करेंगे, परन्तु दूसरी को तो सब से बुरा कहेंगे। क्योंकि पहली में काम पूरा नहीं होता, इसलिए यह प्रवृत्ति बुरी है, परन्तु दूसरी में दो हानियाँ हैं। एक तो काम पूरा न होना और दूसरा नौकर का भी हाथ से निकल जाना है।

संसार पर विचारिये—इसी प्रकार मृत्यु के उपासक सांसारिक विषयों में फंसने से बचते हैं। यही अच्छी बात है। वे संसार की किसी वस्तु से प्रेम नहीं करते। मरने की तैयारी में लगे रहते हैं। इसलिए मृत्यु के समय उनको दुःख कम होता है। जो स्त्री पहले से ही घरवालों से तंग आ रही है वह प्रसन्नता से कुएँ में गिरने या विष खाने के लिए तैयार रहती है। उनको मौत का भय कम है, परन्तु उस का घर के लिए उपयोग क्या? मृत्यु की तैयारी तो निषेधात्मक वस्तु है, क्रियात्मक नहीं। मौत का पुजारी उस यात्री के समान है जिस को रेल ने जबरदस्ती ले-जाकर किसी नगर के स्टेशन पर उतार दिया हो और जो स्टेशन पर धरना देकर बैठा है कि चाहे जो कुछ हो जाय, मैं नगर में नहीं जाने का या तो वहाँ से रेल ले जाय या भागकर चला जाऊँ। ऐसा पुरुष सांसारिक जीवन को अनित्य समझता हुआ अनुपयोगी भी समझता है, अर्थात् उसमें आधी सच्चाई है, पूरी सच्चाई नहीं। इतना तो सत्य है कि संसार अनित्य है परन्तु यह असत्य है कि इस असार संसार का कुछ उपयोग नहीं। मनुष्य को यात्रा के बीच में रैन-बसेरा करना पड़ता है, वह एक तम्बू डालकर ही रहता है, परन्तु वह है तो आखिर बसेरा! बसने का उपयोग है और इसके साधनों का सम्पादन करना है। लोक में अनेक ऐसे दृष्टान्त हैं जिनमें अनित्य कार्यों का उपयोग है। **हम रात को सोते हैं। केवल छह-सात घण्टों के लिए। कौन ऐसा है जो चौबीस घण्टे सोता रहे? परन्तु इस का यह अर्थ तो नहीं कि सोना क्षणिक है, इसलिए क्या करेंगे सोकर। जो ऐसा सोचता है वह सोने के**

आनन्द और उसके स्वास्थ्य लाभ से वञ्चित रहेगा।* एक नगर से दूसरे नगर को चलिए। मार्ग में बहुत से स्टेशन आएंगे। इनका आप का संयोग क्षणिक होगा, परन्तु होगा अवश्य। यदि आप इस क्षणिक सम्पर्क की उपयोगिता समझते हैं तो यात्रा में कृतकार्य होंगे। यदि सम्पर्क को क्षणिक समझकर उस से बचने का यत्न करें और स्टेशनों से गुजरना भी पसन्द न करें तो यात्रा में आगे कैसे बढ़ेंगे? इसलिए उपनिषत् कहती है कि असम्भूति, असम्भव या नाश के पुजारी भारी अन्धकार में हैं। **यदि हमारा ध्येय संसार से घृणा होता तो ईश्वर हम को यहाँ लाता क्यों?** यदि आये हैं तो उस कार्य में तत्परता होनी चाहिए। नगर से प्रेम न सही उस उद्देश्य से तो प्रेम है जो उस नगर में रहने से ही बन सकता है। संसार में रहने से हमारी उन्नति होगी। यही संसार का उपयोग है यही उसकी संसारता है। **लोग भूल से इस को असार संसार कहते हैं। लोग भूल से इस को स्वप्न कहते हैं।** लोग भूलकर इस को पानी के ऊपर का बुलबुला कहते हैं। स्वप्न में भी सार है। उस का भी उपयोग है। बुलबुले भी व्यर्थ नहीं उठते। प्रकृति में उन का भी उपयोग है, और संसार में आने का हमारे लिए भी पूरा उपयोग है।

जीने का निश्चित उपयोग—परन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि संसार में जीने का एक निश्चित उपयोग है। हम संसार में केवल रहने के लिए ही नहीं आये किन्तु विशेष कार्य की सिद्धि के लिए आये हैं। स्टेशन गुजरने के लिए हैं वहाँ उतरकर डेरा डालने के लिए नहीं। जो वहीं रह गया उस को निकाला जायेगा और वह अपने उद्देश्य की पूर्ति भी नहीं कर सकेगा। वह चलते समय रोएगा भी और अपने विगत समय की व्यर्थता पर हाथ भी मलेगा। उस को दो हानियाँ होंगी। जब तक रहा कुछ प्राप्ति न कर सका। जब चला तो खाली हाथ चला। यही पहले से भी घोरतम अन्धकार है जो सम्भूति के उपासकों को प्राप्त होता है।

जीने का कला—एक और उदाहरण लीजिए। आप अपने पुत्र को किसी विद्यालय में दो वर्ष के लिए भेजते हैं। क्यों? इसलिए कि

---

* छोटे-छोटे दृष्टान्त देकर गूढ़ दार्शनिक सिद्धान्तों को हृदयंगम करवाने में उपाध्यायजी को सिद्धि प्राप्त थी। —'जिज्ञासु'

वह ज्ञान की वृद्धि करे। यदि वह समझता है कि दो वर्ष ही तो रहना है क्यों न "घर-घर की रट" लगाओ और विद्यालय के किसी काम में रुचि न लगे तो दो ही बातें हो सकती हैं या तो पहले ही भागने का यत्न करो जैसा कि आत्मघाती किया करते हैं या येन केन प्रकारेण दो वर्ष काटो और अन्तिम दिन की प्रतीक्षा करते रहो जैसा मृत्यु के उपासक करते हैं। दोनों का परिणाम एक ही है, अर्थात् विद्यालय से उपरति और उस से होनेवाले लाभों से बचना। यदि आप का वह पुत्र पहले भाग आया तो भी आप अप्रसन्न हैं और यदि दो वर्ष पीछे कोरा लौटा तो भी अप्रसन्न, परन्तु वह बच्चा विद्यालय में जाकर वहाँ के लाभों पर ध्यान न दे, घर आना भी भूल जाय, सैर करे, खेल-कूद में मस्त रहे और दो वर्ष बाद फेल हो जाय तो भी आप उसे दो वर्ष से अधिक वहाँ रहने न देंगे और न विद्यालय के अध्यक्ष ही उस से प्रसन्न होंगे। वह विफल हो गया। उसने अपने जीवन को नष्ट कर दिया और घर से भी प्रेम छूट गया। ऐसा लड़का दूने घाटे में है। धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का, परन्तु बुद्धिमान् बालक वह है जो अपने घर और अपने पिता के अनुशासन को दृष्टि में रखते हुए विद्यालय की प्रत्येक चीज से प्रेम रखता है और उसके सभी नियमों का पालन करता हुआ उसके प्रत्येक विभाग को अपने विकास का साधन समझता है। उसने दो बातों को सदा ध्यान में रक्खा है एक तो यह कि विद्यालय में सदा रहना नहीं। दूसरा यह कि इसी कारण विद्यालय में रहने का जितना अवसर मिला है उस का पूरा-पूरा उपयोग किया जाय। ऐसे विद्यार्थी का आत्मा पूर्णतया विकसित हो जाता है। परीक्षा में उत्तीर्ण होता है। घर में बाप प्रसन्नचित्त होकर उस का स्वागत करने को तैयार है। विद्यालय के अध्यक्ष मानपूर्वक उस को विदा करने को उद्यत हैं। उसकी प्रसन्नता और उस का अभिमान सराहनीय है। उसने विद्यार्थी जीवन का पूरा उपयोग किया और अब अन्त में विकसित रूप में घर जाने को तैयार है। उसने विद्यालय को व्यर्थ नहीं समझा, असार नहीं समझा, स्वप्न नहीं समझा। वह उस को जीती जागती संस्था समझकर उस से लाभ उठाता रहा, परन्तु उसने विद्यालय को नित्य रहने का घर भी नहीं समझा। बहुत से मूर्ख विद्यार्थी विद्यालय से अनुचित प्रेम कर बैठते हैं। वे एक कक्षा से दूसरी कक्षा में जाने का यत्न नहीं करते।

उनको कोई कक्षा–प्रेमी नहीं कहता और अन्त में थककर अध्यक्ष उनको कान पकड़कर निकाल देता है।

उन्हें मौत का डर नहीं—उपनिषत् कहती है कि विनाश, अर्थात् मृत्यु का ज्ञान प्राप्त करने से मृत्यु को पार कर जाता है, अर्थात् मृत्यु का दुःख उस को सता नहीं सकता। जिसने मृत्यु के तत्त्व को समझा है वह मृत्यु से भयभीत क्यों होगा ? वह तो जानता है कि जिस जन्म को मैंने ग्रहण किया है वह सदा नहीं रहने का। वह समझता है कि शरीर नित्यप्रति क्षीण हुआ करता है। **जो कुरता फट गया उस से तो बच्चे भी प्रेम नहीं करते वे उसे उतारने के लिए तैयार रहते हैं।** मृत्यु का शोक इसलिए है कि मृत्यु के तत्त्व को हम ने नहीं समझा। मृत्यु व्यर्थ नहीं आती। मृत्यु के विषय में गीता का निम्नलिखित श्लोक याद रखिये।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय।

अर्थात् मृत्यु नाम है देह छोड़ने का। देह की उपमा कुछ–कुछ कपड़ों से दी जाती है। फटे कपड़े सदा कौन पहनता है ? उसे उतारकर नया कपड़ा पहनने में सभी खुशी मनाते हैं। इसी प्रकार जब शरीर जीर्ण हो गया, इससे पूरा–पूरा उपयोग ले चुके तो मृत्यु से अप्रसन्नता किस बात की ? और भय क्यों ?

और जब सम्भूति या जीवन के तत्त्व को समझ लिया तो वेद पढ़े, सत्कार्य किये। परोपकार में जीवन लगाया और उस से आत्मविकास हुआ। आत्मज्ञान की प्राप्ति हुई, इसीलिए तो कहा कि सम्भूति के ज्ञान से अमरत्व की प्राप्ति होती है। सम्भूति के ज्ञान का भी फल है और असम्भूति के ज्ञान का भी। पहले से आत्मज्ञान होता है और दूसरे से मौत का भय नहीं होता। दोनों एक–दूसरे के सहायक हैं।*

❑❑

---

* जीवन और जीवन का मोह दोनों पृथक्–पृथक् हैं। जीवन ऐसे जीना सीखें कि मृत्यु का भय न सतावे। मन को ऐसा साधे कि हँसते–हँसते देह का त्याग कर सकें। —'जिज्ञासु'

१२, १३, १४

अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳ रताः॥ ९॥
अन्यदेवाहुर्विद्याया अन्यदाहुरविद्यायाः।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे॥ १०॥
विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥ ११॥

(१) ये=जो लोग।
(२) अविद्याम्=अविद्या की।
(३) उपासते=उपासना करते हैं।
(४) अन्धंतमः=घोर अन्धकार को।
(५) प्रविशन्ति=प्रवेश करते हैं।
(६) ततः भूय इव तमः=उस से भी घोरतम अन्धकार को।
(७) ते=वे लोग।
(८) ये उ=जो।
(९) विद्यायाम्=विद्या में।
(१०) रताः=रमे हुए हैं।
(११) अन्यत् एव=अन्य ही।
(१२) आहुः=कहते हैं।
(१३) विद्यायाः=विद्या में रमने के फल को।
(१४) अन्यत्=अन्य ही।
(१५) आहुः=कहते हैं।
(१६) अविद्यायाः—अविद्या में रमने के फल को।
(१७) इति=ऐसा।
(१८) शुश्रुम=हमने सुना है।
(१९) धीराणां=बुद्धिमानों का मत।

(२०) ये=जिन्होंने।

(२१) नः=हमारे लिए।

(२२) तत्=उसकी।

(२३) विचचक्षिरे=व्याख्या की।

(२४) यः=जिसने।

(२५) विद्यां=विद्या को।

(२६) च अविद्यां=और अविद्या को।

(२७) तत उभयं=उन दोनों को।

(२८) सह वेद=साथ साथ जाना।

(२९) अविद्यया=अविद्या को जानकर।

(३०) मृत्युं=मृत्यु को।

(३१) तीर्त्वा=तैरकर।

(३२) विद्यया=विद्या के ज्ञान से।

(३३) अमृतं=अमृत को।

(३४) अश्नुते=प्राप्त होता है।

अन्वयार्थ—जो पुरुष अविद्या की उपासना करते हैं, वे अन्धकार को प्राप्त होते हैं और जो विद्या की, वे उस से घोरतर अन्धकार को। अविद्या का फल और है और विद्या का और, धीर पुरुषों की यही राय है। जो अविद्या और विद्या दोनों को यथावत् जानता है **वह अविद्या के ज्ञान से** मृत्यु को तर कर विद्या के ज्ञान से अमृत की प्राप्ति कर लेता है।

यह भूल-भुलइयाँ!—इस मन्त्र-त्रयी में साधारणतया तो भूल-भुलइयाँ ही दिखाई देती हैं। यह तो समझ में आ सकता है कि अविद्या की उपासना करनेवाला अन्धकार को प्राप्त हो परन्तु विद्या का उपासक अन्धकार को क्यों प्राप्त हो और वह भी घोरतम अन्धकार को?

इन तीनों मन्त्रों की कुञ्जी तीसरा मन्त्र है और विशेष कर इतना पद—"**यस्तद् वेद उभयं सह।**". अर्थात् जो विद्या और अविद्या दोनों का साथ-साथ ज्ञान रखता है। यहाँ 'वेद' शब्द पर विशेष विचार करना चाहिए, क्योंकि साधारणतया यह शब्द दृष्टि से ओझल हो जाता है। "अविद्यया" का अर्थ है "अविद्या के ज्ञान से" और "विद्यया" का अर्थ है "विद्या के ज्ञान से" उपनिषत् कहती है कि

अविद्या के ज्ञान से मृत्यु से पार हो सकते हैं और विद्या के ज्ञान से अमृत की प्राप्ति होती है। **याद रखना चाहिए कि उपनिषत् यह नहीं कहती कि 'अविद्या' से मृत्यु से तरते हैं या विद्या से अमृत को पाते हैं। ऊपर से 'वेद' की अनुवृत्ति अवश्य ही लानी चाहिए।** बिना इसके अर्थ ठीक-ठीक अवगत नहीं हो सकेगा।

इतनी भूमिका के पश्चात् देखना चाहिए कि अविद्या क्या है और विद्या क्या ?

कुछ लोगों ने विद्या का अर्थ ज्ञान और अविद्या का कर्म किया है। किस प्रकार ? वे जीवन की क्रियाओं के दो विभाग करते हैं—एक ज्ञानकाण्ड दूसरा कर्मकाण्ड। ज्ञानकाण्ड कर्मकाण्ड नहीं और कर्मकाण्ड ज्ञानकाण्ड नहीं। ज्ञानकाण्ड कर्मेतरकाण्ड है और कर्मकाण्ड ज्ञानेतरकाण्ड। जब ज्ञानकाण्ड को विद्या कहा तो कर्मकाण्ड को विद्येतरकाण्ड या 'अविद्या' कह सकते हैं। जैसे ब्राह्मण को छोड़कर अन्य सब ब्राह्मणेतर या अब्राह्मण हैं। इसी प्रकार विद्या को छोड़कर जो काण्ड शेष रहता है। वह विद्येतरकाण्ड या अविद्या है, अर्थात् जो कुछ विद्या की कोटि में नहीं आता वह सब-कुछ अविद्या है। इस प्रकार उन का कहना है कि कर्म मृत्यु से तरने का साधन है और ज्ञान अमृत की प्राप्ति का।

यह उलझन!—इस अर्थ के लिए कोई पुष्कल प्रमाण नहीं है। **विद्या और अविद्या ये दो शब्द समस्त वेदों में केवल इन्हीं मन्त्रों में आते हैं, अन्यत्र नहीं।** यदि अन्य स्थलों पर भी ये आये होते तो वहाँ से कुछ सहायता मिल सकती। विद्या और अविद्या ज्ञान और कर्म के पर्य्याय क्यों हैं ? और यह परिभाषा कहाँ नियत की गई है ? यह स्पष्ट नहीं होता। जो लोग 'जीव-ब्रह्म की एकता' और 'ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या' के सिद्धान्त को मानते हैं उन्होंने शायद कर्म को अवहेलना की दृष्टि से अविद्या बताया है, क्योंकि उनके मत में यह आत्मा शुद्धबुद्ध-मुक्तस्वभाव है। वह अविद्या और माया के वश होकर ही कर्म करता है। जब जीव ने अपने को ब्रह्म समझ लिया तो कर्म करने की आवश्यकता नहीं रहती। कर्म अज्ञान के ही कारण होता है। हमारी राय में यह सिद्धान्त इन तीन मन्त्रों से पुष्ट नहीं होता। यदि ऐसा होता तो कर्म अन्धकार का हेतु भले ही होता, ज्ञान घोरतम अन्धकार का हेतु

क्यों होता ? उलझन वास्तविक है और बिना यत्न किये इस गुत्थी को सुलझाना कठिन है। हमारे विचार से तो गुत्थी उसी समय सुलझ सकती है जब हम 'यस्तद् वेद' पर बल दें और इस शब्द के रहस्य को खोलने के लिए इसे तालिका समझें।

यों तो साधारणतया किसी वस्तु को तत्त्वत: जानने का नाम है विद्या और न जानने का नाम हुआ अविद्या, परन्तु प्रश्न यह है कि **विद्या को कैसे जाने** (वेद) **और अविद्या को कैसे जाने ?** क्योंकि उपनिषत् कहती है कि वही पुरुष कृतकार्य होगा जो दोनों को साथ-साथ जानता है।

कुछ लोगों का विचार है कि दूसरे मन्त्र में अविद्याया: और विद्याया: के पीछे 'फल' शब्द छिपा हुआ है, अर्थात् अविद्या का और फल है और विद्या का और फल। परन्तु फल की अनुवृत्ति कहाँ से लाई जाय और आगे उस से कैसे संगति लगेगी ? हमारी समझ में तो यहाँ भी 'फल' के बजाय 'ज्ञान' शब्द से जोड़ना चाहिए अर्थात्—

अविद्या का ज्ञान और चीज है और **विद्या का ज्ञान** और चीज। ज्ञान 'शब्द' को यहाँ जोड़ देने से तीसरे मन्त्र के साथ भली-भाँति संगति लग जाती है।

अब हम यह विचार करते हैं कि अविद्या का ज्ञान क्या है और विद्या का ज्ञान क्या ? और यह किस प्रकार क्रमश: मृत्यु के तैरने और अमृत के प्राप्त करने में सहायक हो सकते हैं।

जिस प्रकार वैद्यक के दो विभाग हैं एक स्वास्थ्य-लाभ के साधनों का परिज्ञान और दूसरा रोगोत्पत्ति के कारणों का परिज्ञान, उसी प्रकार दर्शन, अर्थात् सम्यग् ज्ञान के भी दो अलग-अलग विभाग हैं। एक तो विद्योपार्जन के साधनों का ज्ञान और दूसरा अविद्या के कारणों का ज्ञान। किसी चीज को न जानना मात्र अविद्या है और किसी चीज को जानना मात्र विद्या। अविद्या सब मूर्खों या जड़ पदार्थों में होती है। जिस वस्तु के विषय में सर्वथा अपरिचित हूँ उसके सम्बन्ध में मैं उतना ही अविद्वान् हूँ जितनी मेरी खाट जिस पर बैठा मैं लिख रहा हूँ, **परन्तु अविद्या का ज्ञान जितना मुझ को है उतना खाट को नहीं** और एक मनोविज्ञानवेत्ता को यह ज्ञान है कि खाट क्यों नहीं जानती और मैं क्यों नहीं जानता। **रोगी के पास रोग है रोग का ज्ञान नहीं**। अविद्वान्

के पास अविद्या का ज्ञान नहीं। अविद्या का ज्ञान केवल तत्त्ववेत्ता को ही हो सकता है।

अविद्या की उत्पत्ति—जड़ पदार्थ विद्या और अविद्या दोनों के पचड़ों से मुक्त हैं और कोई बुद्धिमान् पुरुष उनमें विद्या-प्रचार का प्रबन्ध नहीं करता। वह उनकी प्रकृति से अभिज्ञ है। वह जानता है कि वृक्षों में क्यों ज्ञान नहीं, इसलिए वह वृक्षों के स्कूल नहीं खोलता। वह जानता है कि कुत्तों में ज्ञान क्यों नहीं। इसलिए कुत्तों को शिक्षा देने का प्रयास कर सकता है। वह जानता है कि जंगलियों में अविद्या है, अत: वह उनको सुशिक्षित करने का उद्योग कर सकता है। वह जानता है कि साधारण शिक्षित पुरुषों को क्यों उच्च विद्या की प्राप्ति नहीं, अत: उनके लाभ के लिए कथा, सत्संग आदि का प्रबन्ध कर सकता है। वह अशिक्षितों को सुशिक्षित, सुशिक्षितों को मुमुक्षु और मुमुक्षुओं को मुक्ति-पद प्राप्त कराने का उद्योग कर सकता है। क्यों? इसलिए कि वह अविद्या का ज्ञान रखता है। वह जानता है कि अविद्या है क्या चीज, क्यों उत्पन्न होती है और कैसे नष्ट की जा सकती है। वह यह भी जानता है कि हम को अमुक वस्तु की जानकारी क्यों है? क्यों हो सकती है और उस जानकारी का क्या मूल्य है। सब युगों के दार्शनिकों ने ज्ञान के साधन (Theory of Knowledge or Epistemology) पर बहुत ध्यान दिया है और उसकी विवेचना का उद्योग सब से पहले किया है। न्यायदर्शन में गौतम जी ने १६ पदार्थों के तत्त्वज्ञान को नि:श्रेयस का साधन माना है। इनमें संशय, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान, अर्थात् सात पदार्थ तो **केवल अविद्या के ज्ञान से ही सम्बन्ध रखते हैं।** जो इनको नहीं जानता वह जीवन-यात्रा को तो पूरा कर ही नहीं सकता। यदि हम मानव-जाति के इतिहास में व्यक्तिगत असफलताओं के कारण खोजने का यत्न करें तो उन सब के मूल में एक बात मिलेगी, अर्थात् उन्होंने परिस्थिति को समझने में भूल की और वह भूल क्यों हुई? इसलिए कि उन्होंने अविद्या के कारणों पर विचार नहीं किया। लोग यह तो जानते हैं कि अविद्या किन-किन दोषों को उत्पन्न करती है, परन्तु वे कभी इस बात पर विचार नहीं करते कि अविद्या उत्पन्न किन-किन कारणों से होती है।

जिन्हें अन्धेरा प्यारा लगता है—पहले मन्त्र में कहा गया है कि

जो अविद्या की उपासना करते हैं वे घोर अन्धकार को प्राप्त होते हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि अविद्या के उपासक कौन हैं? क्या संसार में कोई भी ऐसा मूर्ख है जो अन्धकार या अज्ञान से प्रेम करे और विद्या एवं प्रकाश से घृणा करे? हाँ, ऐसे बहुत से हैं। लौकिक भाषा में कहते हैं कि—

"चोर न प्यारी चाँदनी जैसी अन्धेरी रात।"

परन्तु बहुत से लोगों की मनोवृत्ति अविद्या की ओर रहती है। कुछ अपने को धार्मिक कहलानेवाले लोग भी विद्या तथा विज्ञान से डरते और अविद्या की उपासना करते हैं। वे समझते हैं कि—

आँखें ही बला लाती हैं इन्सान पै अक्सर।
अन्धे ही यहाँ अच्छे हैं बीना नहीं अच्छा॥

ईश्वर की खुली पुस्तक—सृष्टि—उन का कथन है कि ईश्वर सर्वज्ञ है। उसकी सृष्टि में बहुत से रहस्य भरे पड़े हैं उनको खोलने से ईश्वर असन्तुष्ट होगा। यह विज्ञान की उन्नति को अधर्म का कारण और ज्ञान के साधनों को ईश्वर-विरोधी काम समझते हैं। जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने गुप्त पत्रों को पढ़नेवाले पुत्र से अप्रसन्न हो जाता है, ऐसे ही यदि हम ईश्वर की सृष्टि का भेद जानने का यत्न करेंगे तो ईश्वर को क्रुद्ध कर देंगे। धर्म और साइंस का विरोध जिसने यूरोप और पश्चिम एशिया के इतिहास को काला कर रक्खा है, इसी अविद्या-उपासना का फल था। वस्तुतः ईश्वर की सब से विस्पष्ट और धोखा न देनेवाली पुस्तक यह सृष्टि है। इस का अध्ययन ईश्वर की आराधना है। इस को बड़ी उत्तम रीति से वेदान्त के पहले, दूसरे, तीसरे और चौथे सूत्रों में वर्णित किया गया है। जब कहा गया कि—

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा।

अर्थात् अब हम ब्रह्म के जानने की इच्छा करते हैं, तो झट यह प्रश्न उठा कि वह ब्रह्म कौन है? उत्तर मिला—

जन्माद्यस्य यतः।

कि ईश्वर सृष्टि-उत्पत्ति, पालन और प्रलय करता है। यह ईश्वर विषय में पहला मूलमन्त्र था, परन्तु इस का अधिकतर सम्बन्ध था जड़ जगत् से। इसलिए चेतन जीवों से सम्बन्ध करने के लिए तीसरा

सूत्र बनाया गया—

शास्त्रयोनित्वात्।

अर्थात् ईश्वर न केवल जगत् को बनाता ही है, किन्तु चेतन जीवों को ज्ञान भी देता है। चौथा सूत्र कहता है—

तत्तु समन्वयात्।

वेद व सृष्टि का समन्वय—अर्थात् शास्त्र के ज्ञान और सृष्टि के ज्ञान में समन्वय है। ये एक-दूसरे से विरुद्ध नहीं जाते। शास्त्र जिन नियमों का प्रतिपादन करता है, सृष्टि-क्रम भी उन्हीं का बोधक है। **यदि सृष्टि में कुछ और है और धर्म-ग्रन्थों में कुछ और तो धर्मग्रन्थों के लिए सृष्टि को तो फेंका नहीं जा सकता।** हाँ, धर्म-ग्रन्थों को सृष्टि के विरुद्ध होने के कारण अवश्य फेंक देना चाहिए। जो आँखें बन्द करके सृष्टि के रहस्यों को बिना खोले अपना काम चलाना चाहते हैं वे अन्धकार को ही प्राप्त हो सकेंगे, क्योंकि अन्धकार उनको प्रिय है।

ज्ञानियों के कारण दुःख—परन्तु इसी मन्त्र का दूसरा टुकड़ा विचित्र है। वह कहता है कि जो विद्या में रत हैं वे पहले लोगों की अपेक्षा और घोर अन्धकार को प्राप्त होते हैं। यह कैसे ? वस्तुतः बात यह है कि संसार में बहुत से विद्वान् अपनी विद्या को पूर्ण समझ कर अभिमानी हो जाते हैं। वे समझते हैं कि जो कुछ हम जानते हैं, वही सब कुछ है। इसी प्रकार के अभिमानी मनुष्यों को बड़ी हानि उठानी पड़ती है। जितना दुःख संसार को अज्ञानियों के कारण नहीं उठाना पड़ता, उतना ज्ञानियों के कारण भोगना पड़ता है, क्योंकि ज्ञानी लोग अपने ज्ञान के बल पर संसार को धोखा देते हैं और सुख के स्थान में दुःख का सञ्चार करते हैं। आजकल विज्ञान की वृद्धि के कारण संसार में जो उत्पात हो रहा है उस से बहुत से लोग विज्ञान के ही विरोधी हो गये हैं और साथ ही उन विज्ञान-वेत्ताओं का भी कल्याण नहीं हो रहा। इन दोनों प्रकार के मनुष्यों की असफलता को बताकर दूसरा मन्त्र कहता है कि विद्या और अविद्या दोनों का उपयोग भिन्न-भिन्न है। इनकी सीमाओं को समझना चाहिए। जिस को अविद्या का यथोचित ज्ञान हो गया वह अविद्या के ज्ञान से मृत्यु के पार हो जायेगा और विद्या के ज्ञान से अमृत को पा लेगा।

मृत्यु का भय न हो—हम ऊपर कह चुके हैं कि मृत्यु के पार करने का अर्थ यह नहीं है कि मृत्यु कभी आये ही नहीं। जो शरीर में उत्पन्न हुआ है वह नष्ट अवश्य होगा, परन्तु जो मनुष्य अपने जीवन में सफल रहता है उस को मृत्यु का भय नहीं होता। योगदर्शन में अविद्या के यह लक्षण किये हैं—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।

(योगदर्शन साधनपाद सूत्र-५)

अर्थात् अनित्य को नित्य, अपवित्र को पवित्र, दुःख को सुख और अनात्म को आत्मा समझना ही अविद्या है, और मृत्यु का भय इसी अविद्या से होता है। जिसने अविद्या के इस लक्षण को भली-भाँति समझ लिया वह अवश्य ही मृत्यु के फन्दे से बचा रहेगा। जब तक जीएगा मृत्यु का भय उस को न सता सकेगा और जब मरेगा तो उस को संसार का मोह न होगा।

परन्तु मृत्यु से न डरना या संसार से मोह न होना ही जीवन का एकमात्र उद्देश्य नहीं है। ये तो निषेधात्मक वस्तुएँ हैं। कभी-कभी जोश में अन्धे मनुष्य भी मृत्यु से नहीं डरते या तमोगुणी पुरुष संसार के प्रेम को नहीं जानते। मृत्यु से न डरना एक चीज है और अमृत की प्राप्ति दूसरी चीज! वह तो पूर्ण तत्त्वज्ञान से ही हो सकेगी।

❑❑

१५

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तः शरीरम्।
ओ३म् क्रतो स्मर। क्लिबे स्मर। कृतꣳ स्मर॥

(१) वायुः=जीव

(२) अनिलम्=अन्+इलम्, इलारहितम्, पृथिव्यादिभूतरहितम् (अभौतिकम्)=अभौतिक

(३) अमृतम्=अमर है

(४) अथ=और

(५) इदं शरीरम्=यह शरीर

(६) भस्मान्तम्=(बहुव्रीहिसमास, भस्म है अन्त में जिसके) अन्त में भस्म होनेवाला है।

(७) क्रतो=(क्रतु का सम्बोधन) हे संकल्पात्मक जीव! कर्मनिष्ठ जीव!

(८) ओ३म्=ओ३म् को। ईश्वर के नाम को।

(९) स्मर=याद कर।

(१०) क्लिबे=(व्या०—कल्प्यते भोगाय इति क्लृप् लोकः तस्मै) लोक के लिए।

(११) स्मर=याद कर

(१२) कृतम्=अपने पहले किये हुए काम को

(१३) स्मर=याद कर।

अन्वयार्थ—यह जीव अभौतिक है, इसलिए अमर है और यह शरीर भस्म हो जानेवाला है। हे कर्मनिष्ठ जीव! ओ३म् को याद कर, लोक के लिए याद कर। अपने किये हुए कर्म को याद कर।

भिन्न-भिन्न रूप से ईश्वर और जगत् का स्वरूप तथा उन का सम्बन्ध बताने के पश्चात् अब जीव और शरीर के विषय में कहते हैं, क्योंकि समस्त उपदेशों का मुख्य हेतु जीव ही है। जीव के कल्याण के लिए ही तो उपनिषत् हैं। सब वेद, सब उपदेश, सब शिक्षाएँ उसी के

लिए हैं।

जीव क्रियाशील है—जीव को यहाँ 'वायु' नाम से पुकारा गया है। 'वायु' शब्द 'वा गतिगन्धनयोः' धातु से बनता है। गतिशील होना ही जीव का मुख्य लक्षण है। जीव चर है, प्रकृति अचर है। जीव के सम्बन्ध में आने से ही प्रकृति भी चर हो जाती है। जब प्रकृति का जीव के साथ अत्यन्त निकट सम्बन्ध हो जाता है तो इसी को शरीर कहते हैं। **जीव के द्वारा ही प्रकृति को चरत्व या चेतनत्व उधार मिलता है।** जीव प्रकृति के जिस-जिस भाग के सम्पर्क में आता है उसी में गति उत्पन्न कर देता है। प्रकृति गतिशील हो जाती है। वायु का वायुपन इसी में है कि वह दूसरी चीजों को हिला दे। 'जीव' भी वायु है, क्योंकि वायु के समान गतिशील है।

यह जीव "अनिल" है। यों तो निघण्टु में वायु और अनिल को पर्याय कहा गया है, अर्थात् 'अनिल' नाम है वायु का, परन्तु यहाँ दो पर्यायों को इकट्ठा करने का क्या प्रयोजन था? इसलिए 'अनिल' के वास्तविक अर्थों पर विचार करना चाहिए। पृथ्वी का नाम है 'इला'। पृथ्वी पाँच भूतों में सब से स्थूल होने के कारण भौतिकता की अपेक्षा से पाँचों भूतों का प्रतिनिधि है। जीव को अनिल कहने का तात्पर्य यह है कि उसमें पृथ्वी आदि भूतों की स्थूलता नहीं। जीव एक अभौतिक पदार्थ है। जितनी वस्तुएँ संसार में बनी हुई दृष्टिगोचर होती हैं सभी भौतिक हैं, पाँच भूतों से मिलकर बनी हैं, परन्तु जीव किन्हीं भूतों से मिलकर नहीं बना है। **वह तो स्वयम् एक पदार्थ है। कई पदार्थों का संयोग नहीं** और जब संयोग नहीं तो स्वभावतः उस को अमृत, अर्थात् मृत्यु से मुक्त होना चाहिए।

जीव क्या है? इस पर प्रत्येक पुरुष को सोचना अवश्य चाहिए, क्योंकि प्रत्येक पुरुष जीव ही तो है। मैं क्या हूँ? इस को बहुत कम लोग सोचते हैं। प्रायः हमारा नित्य का प्रयास यह है कि हम दूसरी वस्तुओं को जानें, परन्तु स्वयम् अपने को जानना हम व्यर्थ समझते हैं। जिन्होंने जीव के स्वरूप पर विचार किया है, वे तीन बातें कहते हैं—

कुछ का कहना है कि भौतिक पदार्थ जब मिलते हैं तो एक चेतना उत्पन्न हो जाती है जैसे शराब में नशा। इसी चेतना का नाम जीव है। शराब बिगड़ने पर उस में नशा भी नहीं रहता। शरीर के नष्ट होने

पर जीव भी नहीं रहता। इस प्रकार पाञ्चभौतिक संयोग का नाम जीव है और उनके वियोग पर जीव का अस्तित्व नहीं रहता। उपनिषत् कहती है कि जीव नित्य, अर्थात् अभौतिक है। भौतिक संयोग का नाम जीव नहीं और न केवल भौतिक संयोग का नाम शरीर है। शरीर को शरीर बनाने के लिए भौतिक संयोग भी चाहिये और जीव की प्रेरणा भी चाहिए। गृह केवल ईंट-पत्थर का संयोग ही नहीं किन्तु उस को गृह बनाने के लिए उस में रहनेवाला गृहपति भी तो चाहिए। तभी उस को गृह कहेंगे। अन्यथा वह ईंटों का ढेर है, गृह नहीं। इसी प्रकार शरीर उसी समय तक शरीर है जब तक शरीरी, अर्थात् जीव उसमें है। जब जीव निकल गया तो शव है मिट्टी है, इला है। अनिल नहीं। **शरीर तो इला और इला से इतर अनिल जीव के संयोग का नाम है।** जब तक जीवन है तभी तक जीवित शरीर है।

जीव नहीं बना, शरीर बनता है—कुछ लोग समझते हैं कि जब शरीर बनने लगता है तो ईश्वर साथ ही जीव को भी बनाकर उसमें प्रविष्ट कर देता है और वह बना हुआ जीव मृत्यु के पश्चात् भी स्वर्ग या नरक भोगने के लिए रहता है। उपनिषत् इस मत का भी निराकरण करती है। जो जीव को बना हुआ अर्थात् सादि मानते हैं, वे बनने के अर्थ पर विचार नहीं करते। बनाने का अर्थ ही दो या अधिक पदार्थों का मिलाना है। ''वियोग+संयोग'' यही बनाने का अर्थ है। मिट्टी को खोदा। यह हुआ वियोग। उसी खुदी मिट्टी को एक विशेष रीति से मिला दिया। यह हुआ घट। यही घट बनाने का अर्थ है। जो एक है, संघात नहीं, वह बना कैसे? और बिगड़ेगा भी कैसे? कई वस्तुओं के मिलने से एक संघात हो सकता है, परन्तु जो संघात नहीं, वह बनी हुई चीज नहीं है और बिगड़ेगी भी नहीं। इसीलिए कहा कि आत्मा अमर है शरीर बनता-बिगड़ता है, आत्मा नहीं।

परमाण, स्मरण क्या करें?—आत्मा के अमरत्व की एक युक्ति मन्त्र में ही संकेत रूप से दी हुई है। उस का दूसरे भाग में उपदेश किया है कि तू ओ३म् का स्मरण कर, अपने किये का स्मरण कर। स्मरण कौन करे? भौतिक संघात? भौतिक संघात क्षणिक है। **शरीर के परमाणु क्षण-क्षण में बदलते रहते हैं। उनमें स्मरण करने की शक्ति नहीं। स्मरण स्थायी चेतन पदार्थ ही कर सकता है।** जिस

रूप को मेरी आँखों ने कल देखा था उसकी याद आँखों को नहीं, क्योंकि आँख तो भौतिक संघात का नाम है। याद मुझ को है क्योंकि मैं अभौतिक हूँ। इसकी विस्तृत व्याख्या हम ने 'जीवात्मा' नामी पुस्तक के 'स्मृति और विस्मृति' नामक ग्यारहवें अध्याय में की है।* प्रासंगिक उद्धरण यहाँ दिया जाता है—

प्रभु की विचित्र रचना—"यह स्मृति, अर्थात् याद और विस्मृति, अर्थात् भूल किस को और क्यों होती है? इस प्रश्न का उत्तर जीवात्मा के अस्तित्व से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। आज किसी व्यक्ति विशेष से मेरा साक्षात्कार हुआ। इस का अर्थ यह है कि आँखों ने उसे देखा! इस साक्षात्कार से जो ज्ञान हुआ वह क्या आँखों के पास सुरक्षित रहेगा या आँखें किसी अन्य वस्तु को वह ज्ञान सौंप देंगी? आँख ने ज्ञान प्राप्त अवश्य किया परन्तु क्षणभर पीछे वह ज्ञान आँखों के पास नहीं है। अगर वह ज्ञान आँखों के पास रहता तो आँखें दूसरी किसी चीज को देख ही न सकतीं, आँखों के सामने वही व्यक्ति सदा बना रहता, परन्तु ऐसा है नहीं। हम किसी भीषण दृश्य को देखते हैं और उस को देखकर भयभीत हो जाते हैं। यदि यह दृश्य सदा आँखों के सामने बना रहे तो जान पर आ बने और जीना कठिन हो जाय, परन्तु नियम यह है कि जब चीज सामने से हट जाती है तब उस का ज्ञान भी उतना स्पष्ट नहीं रहता। यही नहीं एक बात और है, अगर वह भीषण दृश्य सामने बना भी रहता तो भी उसकी भीषणता शनैः-शनैः धुंधली पड़ जाती है। ताजमहल में रहनेवाले लोगों को ताजमहल का सौन्दर्य उतना स्पष्ट नहीं होता जितना पहली बार देखनेवाले आगन्तुक को। इस का मुख्य कारण यह है कि हमारी ज्ञान-इन्द्रियाँ अपनी कमाई को अपने पास नहीं रखतीं परन्तु एक भीतरी कोष में जमा करा जाती हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि वह कोषाध्यक्ष कौन है जिसके सुपुर्द आँखें अपने देखे हुए रूप को, कान अपने सुने हुए शब्द को, जीभ अपने चक्खे हुए स्वाद को, नाक अपनी सूंघी हुई गन्ध को और खाल अपनी छूई हुई कोमलता या कठोरता को सौंप

* अंग्रेजी पठित सज्जन लेखक का ग्रन्थ Philosophy of Dayananda अवश्य पढ़ें। —'जिज्ञासु'

दिया करती हैं।*

शायद आप कहें कि यह कोषाध्यक्ष मन है, परन्तु यह बात नहीं। मन तो इन्द्रियों से भी अधिक चंचल और जटिल चीज है। यह सम्भव है कि आँखें कुछ देर तक अपने विषय के सामने उपस्थित रहें, परन्तु मन तो एक क्षण भर भी एक स्थान पर नहीं ठहरता। उसने इन्द्रियों द्वारा जिस ज्ञान को प्राप्त किया, उस को वह तुरन्त ही दूसरी किसी सत्ता को सौंप कर आगे चल पड़ता है। मन के लिए न्यायदर्शन में यह बताया है कि—

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्। (न्यायदर्शन १।१।१६)

हमारा सब काम बिगड़ जाता—मन में एक साथ कई ज्ञान रह ही नहीं सकते। वहाँ तो अवकाश ही एक ज्ञान के लिए है। जब तक पहला ज्ञान उपस्थित है दूसरा आ ही नहीं सकता। कभी-कभी कोई अनिष्ट बात हमारे मन में ऐसी जम जाती है कि हम उस को भुलाना चाहते हैं। कभी-कभी किसी चिन्ता विशेष के उपस्थित रहने से नींद नहीं आती। उस समय हमारी कोशिश यह होती है कि कोई दूसरा ज्ञान मन में आ जाय और हम पहले ज्ञान को भूल जाएँ। **यदि मन सब ज्ञानों को अपने सामने रखता होता तो हमारा समस्त कार्य बिगड़ जाता।**

फिर वह कौन सा कोषाध्यक्ष है जो इन्द्रियों और मन द्वारा कमाये गये ज्ञान को सुरक्षित रखने का यत्न करता है? यहां हम इस बात की मीमांसा करना नहीं चाहते कि "कोष" कौन सा है, परन्तु 'कोषाध्यक्ष' अवश्य मालूम होना चाहिए। श्री शंकराचार्य जी वेदान्तदर्शन के ३।३।५४ का भाष्य करते हुए लिखते हैं—

(१) **उपलब्धिस्वरूप एव च न आत्मेत्यात्मनो देह व्यतिरिक्तत्वम्॥**

(२) **नित्यत्वं चोपलब्धैरकरूप्यात्।**

(३) **अहमिद्राक्षमिति चावस्थान्तरयोगोऽप्युपलब्धत्वेन प्रत्यभिज्ञानात्।**

---

* देखिए, पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय कृत दार्शनिक पुस्तक 'जीवात्मा' पृष्ठ ८४-८५।—'जिज्ञासु'

(४) स्मृत्याद्युपपत्तेश्च।

अर्थात्

(१) ज्ञान स्वयम् आत्मा नहीं है वह देह से अलग है।

(२) वह नित्य है, क्योंकि जैसा ज्ञान पहले हुआ वैसा अब भी है। उस में एकरूपता है।

(३) हम को यह भान रहता है कि मैंने इस को पहले देखा था।

(४) यह स्मृति यही बताती है कि आत्मा कोई देह से अलग पदार्थ है।

इस प्रकार श्री शंकराचार्य जी की युक्ति यह है कि किसी वस्तु की याद रहना ही आत्मा के अस्तित्व का प्रमाण है। यही तो कोषाध्यक्ष है जिस को इस के एजेण्ट ज्ञान प्राप्त करके दिया करते हैं। इसी का नाम याद है।

आगे चलकर श्री शंकराचार्य जी एक शंका का निवारण करते हैं।

(१) यत् तूक्तं शरीरे भावाच्छरीरधर्म उपलब्धिरिति, तद् वर्णितेन प्रकारेण प्रत्युक्तम्।

(२) अपि च सत्सु प्रदीपादिषूपकरणेषूपलब्धिर्भवत्यसत्सु न भवति।

(३) न चैतावता प्रदीपादिधर्म एवोपलब्धिर्भवति॥

(१) यह जो शंका की गई कि यह स्मृति शरीर का धर्म है, आत्मा का नहीं क्योंकि शरीर के रहते रहती है और शरीर के न रहने पर नहीं रहती। यह शंका भी दूर हो गई।

(२) दृष्टान्त यह है कि दीपक के रहते हुए चीज दिखाई पड़ती है, दीपक के न रहने पर नहीं।

(३) लेकिन कोई नहीं मानता कि देखनेवाला दीपक है। दीपक तो केवल उपकरण है। **इसी प्रकार हमने यह माना कि शरीर के रहते हुए ही याद रहती है, शरीर के न रहने पर नहीं।** फिर भी याद शरीर को नहीं रहती किन्तु शरीर से अलग आत्मा को होती है। शरीर तो केवल उपकरणमात्र है।

न्यायदर्शन में इसी प्रकार की युक्ति दी गई है—

सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानात् ॥ (३।१।७)

अर्थात् जिस वस्तु को बाँई आँख से देखा उसी को दाहिनी आँख से पहचान सकते हैं। **यदि याद रखना आँख का धर्म होता तो बाँई आँख का देखा हुआ बाँई आँख ही पहचान सकती, दाहिनी आँख नहीं।** परन्तु बात यह है कि बाँई आँख ने देखकर जो ज्ञान प्राप्त किया वह उसने अपने पास न रखकर तुरन्त ही आत्मा रूपी कोषाध्यक्ष के पास भेज दिया। उसने दाहिनी आँख की सहायता से उसे झट पहचान लिया।

शरीर के विषय में मन्त्र कहता है कि इस का अन्त भस्म है, अर्थात् जब जीव निकल जाय तो लाश को जला देना चाहिए, क्योंकि पञ्चभूतों के भिन्न-भिन्न परमाणुओं को सूक्ष्म बनाकर उन तक पहुँचा देने में दाह-कर्म ही सब से उपयोगी सिद्ध होता है। इसमें सन्देह नहीं कि जीव निकलने के पश्चात् उस का शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। शरीर जड़ है। उस का संघात भी बिगड़ने लगता है। उस को भूमि में गाड़ दो या काटकर फेंक दो या पानी में डाल दो। जीवित पुरुषों को अधिकार है कि वह उसके साथ जैसा चाहें व्यवहार करें। गये हुए जीव को उस से कुछ भी हानि नहीं पहुँच सकती, परन्तु प्रश्न यह है कि जो उत्तराधिकारी बच रहे हैं वे उस शरीर के साथ कैसा व्यवहार करें। उसे सड़कर दुर्गन्ध फैलाने और रोग उत्पन्न करने दें या जलाकर ऐसी सूक्ष्म अवस्था में परिवर्तित कर दें कि कोई दुर्गन्ध न उठ सके। जमीन में गाड़ने की प्रथा न केवल सड़न, दुर्गन्ध और रोगोत्पत्ति का ही हेतु है, किन्तु यह मुर्दों का नगर (कबरस्तान) बनाकर जीवित पुरुषों से उनके भोग की वस्तु छीनने का भी कारण है। कल्पना कीजिए कि नगर में २० सहस्र मनुष्य रहते हैं। पिछले सौ वर्ष से इस नगर के पचास-साठ हजार मनुष्य मर चुके होंगे, क्योकि बीस वर्ष में एक पीढ़ी बदल जाती है। यदि इन लाशों को सुरक्षित रखा जाय या कम से कम इनकी कबरों के लिए अलग-अलग भूमि छोड़ी जाय तो कितनी विस्तृत भूमि चाहिए? बीस हजार जीवितों के लिए और पचास-साठ हजार मृतकों के लिए। **यदि सृष्टि के आदि से अब तक मरनेवालों की कब्रें सुरक्षित रखी जातीं तो भूमि में जीवित पुरुषों के लिए एक इंच स्थान भी न मिल सकता, इसीलिए उपनिषत् शव-दाहकर्म**

का उपदेश करती है।*

जब जीव अमृत है तो उस का सम्बन्ध अमर तत्त्व के साथ ही होना चाहिए। **इन में सब से मुख्य अमर तत्त्व ब्रह्म है जिस को "ओ३म्" कहा गया है। "ओ३म्" अव्यय है। इसमें व्यय या परिवर्तन नहीं।** यह अमृत है इसलिए अमर जीव को अपने में विकार न उत्पन्न होने देने के लिए ओम् का स्मरण करना चाहिए।

क्यों? इसलिए कि ओम् के स्मरण से मनुष्य तुच्छ भावों से बचकर विशालता की ओर जायेगा। उसमें स्वार्थ कम हो जायगा और वह 'क्लिबे', अर्थात् लोक के लिए उपयोगी हो सकेगा। लोक का अर्थ यहाँ सूर्य, चन्द्र आदि भौतिक पदार्थ नहीं किन्तु अमर जीव हैं जो स्मरण करनेवाले के समान ही चेतन हैं, अभौतिक हैं, अमर हैं।

इसी के साथ जीव को अपने "कृतं", अर्थात् पुराने कार्यों को भी ध्यान में रखना चाहिये। ऐसा करने से **ही वह अपने भूत पर अपना भविष्य** बना सकेगा और जो विकार उसमें प्रकृति के संसर्ग से आ गये हों उनको दूर कर सकेगा।

यह कैसे होगा? इसके लिए आइये अगला मन्त्र देखिए।

❑❑

---

* मृतकों का दाहकर्म सर्वोत्तम व वैज्ञानिक विधि है। कराची, लाहौर जैसे बड़े-बड़े नगरों के कबरस्तान आबाद होते गये तो मरनेवालों की सन्तान कहाँ रहेगी? खाएगी क्या? कृषि के लिए खेत ही नहीं बचेंगे।

—'जिज्ञासु'

१६

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम॥

(१) अग्ने देव=हे प्रकाशस्वरूप ईश्वर

(२) नय=ले चल

(३) सुपथा=ठीक मार्ग से

(४) राये=कल्याण के लिए।

(५) अस्मान्=हम को

(६) विश्वानि वयुनानि=सब (व्या० वय्+उनन्) मनोवृत्तियों को

(७) विद्वान्=जानते हुए

(८) युयोधि-दूर रख

(९) अस्मत्=हम से

(१०) जुहुराणम् एनः=बाधा डालनेवाले वक्रगतिवाले पाप को

(११) भूयिष्ठां=बहुत-बहुत

(१२) ते=तेरे लिए

(१३) नम उक्तिं=नमस्कार को

(१४) विधेम=हम करते हैं।

अन्वयार्थ—हे प्रकाशस्वरूप ईश्वर! आप हमारी मनोवृत्तियों को जानते हैं। आप हमारे कल्याण के लिए हम को ठीक मार्ग पर चलाइये। हम से उन पापों को दूर रखिये जो हमारी उन्नति में बाधक हैं। हम आप को बहुत-बहुत नमस्कार करते हैं।

पिछले मन्त्र में तीन बातों के स्मरण के लिए उपदेश किया गया है। पहला यह कि हम ईश्वर का स्मरण करें। दूसरे यह कि हम संसार के कल्याण के लिए ईश्वर का स्मरण करें। तीसरा यह कि अपने कामों का भी स्मरण करें, जिससे अनिष्ट संस्कारों का क्षय होकर इष्ट संस्कारों की दृढ़ता हो सके। यही हमारा विकास है।

इस मन्त्र में उसी स्मरण का स्वरूप वर्णन करते हैं। **ईश्वर का स्मरण किस रूप में होना चाहिए? क्या हम ईश्वर की खुशामद किया करें?** क्या ऐसा करने से हमारा कल्याण होगा? क्या इस से प्रसन्न होकर ईश्वर हम को वे वस्तुएँ देगा जिन के हम अधिकारी नहीं हैं? यदि नहीं तो उसके स्मरण से हम को क्या लाभ होगा?

इस मन्त्र में बताया गया है कि ईश्वर अग्नि है। वह प्रकाश करता है।* ठीक मार्ग को दिखाने के लिए प्रकाश चाहिए। मनुष्य अन्धेरे में भटकता है। प्रकाश में नहीं। जान बूझकर मनुष्य मिथ्या-मार्ग का अवलम्बन नहीं करता। ज्ञान और प्रकाश के अभाव में ठीक-ठीक मार्ग को न जानकर हम अपने मार्ग से च्युत हो जाते हैं और अन्त में हानि उठाते हैं। ईश्वर को अग्नि इसलिए कहा गया कि इस का स्मरण करने से हम को ठीक मार्ग सूझने लगता है। **ईश्वर हमारी सब मनोवृत्तियों (सर्वाणि वयुनानि) को जानता है।** उसे ज्ञात है कि अल्प जीव क्यों और किस प्रकार भूल करता है। जब मनुष्य ईश्वर का ध्यान करता है तो उसे अपने आप अपना ठीक मार्ग ज्ञात हो जाता है। हम ऊपर के मन्त्रों में कह आये हैं कि मनुष्य जगत् का एक भाग है। उसके कर्त्तव्य उस को तभी ज्ञात हो सकते हैं जब वह इस बात का अनुभव कर ले। यह बात ईश्वर के ध्यान से पूरी हो जाती है। हम अथर्ववेद के एक मन्त्र से स्पष्ट कर चुके हैं कि जो संसार में ओत-प्रोत सूत्र को समझता है, वह ब्रह्म को समझता है। जो ब्रह्म को समझता है वह संसार में ओत-प्रोत सूत्र को भी समझ जाता है और इस बात का ज्ञान होते ही उस को मार्ग दिखाई देने लगता है।** जब हम ईश्वर से **(भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम)** बहुत-बहुत प्रार्थना करते हैं कि हमारे पाप हम से दूर रहें तो हमारे हृदय में उन पापों के लिए घृणा उत्पन्न हो जाती है। **किसी पापी के पाप छुड़ाने का सब से अच्छा उपाय दण्ड नहीं है किन्तु उसके मन में पाप से घृणा उत्पन्न कर देना**

---

* पथप्रदर्शन व प्रकाश का सम्बन्ध सर्वविदित है। इस दृष्टि से ईश्वर को अग्नि नाम से स्मरण करना सहज, स्वाभाविक व वैज्ञानिक सोच है।

** सुखी सफल जीवन के लिए ईश्वर के ज्ञान वेद व उसकी रचना (सृष्टि) को जानना चाहिए। यह वैदिक सिद्धान्त 'अल्लाह की आदत' के लेखक डॉ० बर्क जेलानी ने भी स्वीकार किया है। —'जिज्ञासु'

है, मनुष्य पाप करता ही उस समय तक है, जब तक वह पाप में रुचि रखता है। पाप में एक प्रकार का नशा है जो मनुष्य को मोहित कर देता है और जब तक मनुष्य उस नशे में रहता है तब तक ईश्वर से नशे के दूर करने के लिए प्रार्थी भी नहीं हो सकता। शराबियों को कभी नहीं देखा कि शराब छुड़ाने के लिए प्रार्थना करें। हाँ वे ऐसे देवी-देवताओं के उपासक तो देखे गये हैं कि जिन पर वे शराब चढ़ाते और प्रसाद रूप में शराब पिया करते हैं। ईश्वर-स्मरण और पाप-विमोचन—ये दोनों साथ-साथ चलते हैं। जो सच्चे मन से ईश्वर से प्रार्थी होता है उसके पाप छूट जाएँ, वह पाप छोड़ने का प्रयास आरम्भ कर देता है और इस आरम्भ के होते ही आत्मा में एक नये प्रकाश का आविर्भाव होने लगता है। यह प्रकाश आगे उसे बुरे संस्कारों को दूर करने में सहायक होता है। जो स्वार्थी स्वार्थवश मिथ्या मार्ग का अवलम्बन करता है वह स्वार्थी (अपना हित-चिन्तक) भी नहीं, मूर्ख है क्योंकि ''राये'', अर्थात् अभिवृद्धि के लिए तो सुपथा, अर्थात् ठीक मार्ग का ही अवलम्बन आवश्यक है।

इस वेद मन्त्र में पाप को कुटिल, अर्थात् टेढ़ा कहा गया है। सीधा मार्ग पुण्य का है। टेढ़ा मार्ग पाप का है। जितने टेढ़े मार्ग हैं वे बिना मुड़े हुए इष्ट स्थान पर नहीं पहुँचा सकते। इस प्रकार पापी भी सीधा अपने उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकता।*

❑❑

* सुपथगामी होने की प्रार्थना व आदर्श सार्वभौमिक है। फ़ारसी में इस मन्त्र के भाव को लेकर उपदेश है—'राहे रास्त बिरो गरचे दूर अस्त।' अर्थात् सीधे पथ पर चल भले ही यह दूर हो। —'जिज्ञासु'

१७

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्॥ ओ३म् खं ब्रह्म॥

(१) हिरण्मयेन=चमकीले
(२) पात्रेण=पात्र से
(३) सत्यस्य=सत्य का
(४) मुखम्=मुंह
(५) अपिहितम्=ढका हुआ है।
(६) यः=जो
(७) असौ=वह, यह
(८) आदित्ये=सूर्य में
(९) पुरुषः=पुरुष है
(१०) सः असौ=वह, यह (११) अहम्=मैं हूँ।
(१२) ओ३म्=वह ईश्वर रक्षक है (अवतीति ओ३म्)
(१३) खम्=आकाश के समान सर्वत्र व्यापक है।
(१४) ब्रह्म=सब से बड़ा है।

अन्वयार्थ=ईश्वर जीव को उपदेश देता है कि सत्य का मुख चमकीले पदार्थ से ढका हुआ है। सूर्य में जो पुरुष है वह मैं ईश्वर हूँ।

इस मन्त्र में बताया गया है कि मनुष्य सन्मार्ग से क्यों बहकता है? मनुष्य अल्पज्ञ है। वह चीजों की गहराई तक कठिनता से पहुँचता है। वह चमकीली चीजों में फँस जाता है। हम देखते हैं कि बच्चे चमकीले अनिष्ट पदार्थों को ग्रहण कर लेते हैं और चमक-दमक से शून्य इष्ट पदार्थों को त्याग देते हैं। ठग बच्चों को इसी प्रकार ठगते हैं। बड़ों को ठगनेवाले भी चमकीले पदार्थ ही हैं।* इसलिए ईश्वर उपदेश

---

* इसी आर्ष सिद्धान्त को अंग्रेजी में इस प्रकार से कहा है—
"All that glitters is not gold.
अर्थात् चमकनेवाली प्रत्येक वस्तु सोना नहीं हो सकती। —'जिज्ञासु'

करता है कि गहराई तक पहुँचकर ही कल्याण हो सकता है। ऊपरी दृष्टि से बहुत धोखा हो जाता है। एक उदाहरण से इस को स्पष्ट किया है। संसार में सब से अधिक चमकीला पदार्थ सूर्य है। मनुष्य सूरज को देखते ही चकित हो जाता है और उस के सामने श्रद्धा से माथा टेक देता है। वह समझता है कि इतना प्रकाशवान् पदार्थ हमारा ईश्वर है। इसी ने सृष्टि बनाई है। यह बड़ा तेजस्वी है। ईश्वर कहता है कि यह बात नहीं है। इस चमकीले प्रकाश के गोले को अपना निर्माता मत समझो। याद रखो कि सूर्य में जो चमक है वह मेरी है। मैं सूर्यलोक में व्यापक होकर सूर्य को प्रकाश देता हूँ। यह मैं हूँ जो सूर्य के द्वारा चमक रहा हूँ। अन्यत्र उपनिषद् में कहा है—

तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। (कठ० २। २। १५)

ईश्वर वह है जिस की ज्योति से यह सब प्रकाशमान जगत् प्रकाशित होता है।

ईश्वर के रक्षकत्व, व्यापकत्व और बृहत्त्व को वर्णन करके उपनिषत् समाप्त होती है।

❑❑❑

विशेष टिप्पणी—इस मन्त्र में सत्य का मुँह सुनहले ढक्कन से ढका हुआ है, यह एक मार्मिक उपदेश दिया गया है। पं० इन्द्र जी ने इस मन्त्र की व्याख्या में लिखा है कि जब सुख की चाहना प्रबल हो उठती है तब वह प्रलोभन और आसक्ति बनकर मनुष्य को कर्त्तव्य के मार्ग से डिगा देती है। मन्त्र के इसी भाव को लेकर फारसी में एक सूक्ति है—

'दहाने सग ब लुकमा दोख़ता बायद'।

अर्थात् कुत्ते का मुख (लोभी व्यक्ति) को रोटी के टुकड़े से सिया जाना चाहिए। सन्मार्ग पर चलने के लिए प्रलोभनों को चीरने की शक्ति पैदा करनी चाहिए।

—'जिज्ञासु'